



# सेवाग्राम से शोधग्राम



डॉ. अभय बंग

अनुवाद : सुश्री सोनल परीख

सेवाग्राम से शोधग्राम : डॉ. अभय और रानी बंग

'सर्च' - शोधग्राम, जिला : गडचिरोली-४४२६०५  
महाराष्ट्र, भारत.

टेलि: ०७१३८-२५५४०७

फैक्स : ६९१-७१३८-२५५४११

अनुवाद : सुश्री सोनल परीख

हिंदुस्तानी प्रचार सभा, मुंबई द्वारा प्रदत्त आर्थिक  
सहयोग से रियायती दर पर प्रकाशित

प्रथम हिंदी संस्करण : जून २००६

पृष्ठ : ४८

आमंत्रण मूल्य. १०/- रुपये

प्रकाशक

टी. आर. के. सोमैया, मुंबई सर्वोदय मंडल,  
२९९ ताड़देव रोड, नाना चौक, मुंबई - ४०० ००७  
फोन : ०२२-२३८७ २०६९

अक्षर संयोजन

शकील अहमद मोबाइल नं. - ९८७००७००३८  
निलेश शिवडावकर मोबाइल नं. - ९८६९४२९९४३

मुद्रक:

मधु सावंत  
अक्यूमॅन प्रिंटर, जे.डी. मार्ग,  
ताड़देव मुंबई- ०७  
९८९९८५८९८७



## ऋणानुबंध

भारतीय संस्कृति में यह मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति पर कुछ ऋण होते हैं। जैसे मातृऋण, पितृऋण, ऋषिऋण आदि उसी तरह गांधीजी का मानना था कि प्रत्येक व्यक्ति पर समाज का ऋण भी होता है। हमारे जीवन में जो भी सुख - सुविधाएँ, उपलब्धियाँ, यश, प्रतिष्ठा हमें मिलती हैं उन सबके लिए देशभर के हज़ारों-हज़ार लोग निरंतर श्रम करते रहते हैं इसीलिए गांधीजी का आग्रह था कि उतना ही लो जितने की तुम्हें अत्यंत ज़रूरत है। ज़रूरत से अधिक जो तुम्हारे पास है तुम उसके ट्रस्टी हो। उसका उपयोग समाज के उन अभावग्रस्त लोगों के लिए करो जो हमारी सामाजिक-आर्थिक दुरवस्था का शिकार हैं।

यह सिद्धांत सिर्फ भौतिक साधनों ही नहीं बल्कि ज्ञान पर भी लागू होता है। तुम्हारे पास जो ज्ञान है उसका उपयोग उनके लिए करो, जो हमारी व्यवस्था की वजह से अज्ञान के घने अँधेरे में घुटने को विवश हैं।

इसी पृष्ठभूमि पर डॉ. अभय बंग ने अपने स्कूली जीवन में ही तै कर लिया था कि वे अपने पिताजी की ही तरह गाँवों में जाकर अपने ज्ञान का उपयोग ग्रामीण आदिवासियों के उत्थान के लिए करेंगे। आखिर ऐसा क्यों न हो! वे उस 'नई तालीम पाठशाला' के छात्र थे जिसे रवींद्र ठाकुर और महात्मा गांधी ने नए भारत के निर्माण हेतु स्थापित किया था। चिकित्सा क्षेत्र में अत्युच्च उपाधि प्राप्त करने के बाद रानी और अभय बंग ने किसी महानगर में फाइवस्टार पॉलिक्लीनिक खोलकर बैंक बैलेंस का ढेर लगाने की बजाय महाराष्ट्र के उस बीहड़ आदिवासी बहुल क्षेत्र में जाकर बालमृत्यु दर तथा जनस्वास्थ्य पर शोध करने का संकल्प लिया जहाँ सरकारी संसाधन भी बड़ी मुश्किल से पहुँच पाते हैं और वह भी आधे-अधूरे रूप में, जिसकी एक झलक आपको इस व्याख्यान में मिलेगी। कनाडा के कॅलगरी में बृहन्महाराष्ट्र अधिवेशन के दौरान डॉ. अभय बंग ने अमेरिका-कनाडा के १२०० अनिवासी भारतीयों के समक्ष जो वक्तव्य दिया उसका अंग्रेजी और

गुजराती में अनुवाद इसी वर्ष हुआ। देखते ही देखते इस पुस्तिका के सभी संस्करण बिक गए। मुंबई सर्वोदय मंडल के श्री. टी. आर. के. सोमैया ने व्यक्तिगत रुचि लेकर इस व्याख्यान को तथा डॉ. अभय बंग के संदेश को अधिकाधिक लोगों तक पहुँचाने का प्रयास किया है। सुश्री सोनल परीख ने 'सेवाग्राम से शोधग्राम' के सफ़र की इस कहानी को गुजराती से हिंदी में अनूदित किया। जब यह पुस्तिका सोमैयाजी ने मुझे भाषा व प्रूफ संशोधन के लिए सौंपी तो मैं पढ़कर दंग रह गया। इतनी सीधी सरल भाषा में इतनी सशक्त अभिव्यक्ति तभी आ सकती है जब वक्ता मन-वचन कर्म से एकनिष्ठ हो, जबकि वर्तमान छल-छद्म भरे माहौल में मन-वचन-कर्म की एकनिष्ठा दूभर हो चुकी है। सुश्री सोनल परीख का अनुवाद बेहद सहज व प्रभावपूर्ण है जिसे थोड़े-बहुत संशोधन के बाद हिंदीभाषी जनमानस को सौंपते हुए मुझे अपार हर्ष हो रहा है। विश्वास है कि जिस तरह गुजराती, अंग्रेजी संस्करणों का स्वागत हुआ ठीक वैसे ही हिंदी संस्करण का भी होगा। सोमैयाजी का आग्रह था कि पुस्तिका आकर्षक और शालीन होनी चाहिए और मुझे छूट दी कि मैं इसकी प्रस्तुति में मनचाहा परिवर्तन कर सकता हूँ। अतः मैंने शकील अहमद और निलेश शिवडावकर की मदद से पृष्ठ संयोजन और सज्जा में कुछ नवीनता लाने का प्रयास किया है। इसमें कितनी सफलता मिली है यह तो सुधी पाठक ही तै करेंगे। यह पुस्तिका 'सेवाग्राम से शोधग्राम' हिंदुस्तानी प्रचार सभा, मुंबई के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित हो रही है।

जय जगत!

दिनांक १ जून २००६

डॉ. हूबनाथ पांडेय



## सो वाग्राम सो शोधग्राम

मुल्कराज आनंद की एक कहानी में एक बच्चा अपनी माँ की ऊँगली पकड़कर मेले में जाता है। वहाँ सुन्दर गुब्बारे, लाल-हरी ज़री की टोपियाँ, बर्फी-जलेबी मिठाई की दुकानें देखकर बच्चा एक के बाद एक चीज़ माँगता है। माँ के पास पैसे नहीं थे इसलिए वह बच्चे को कुछ दिला नहीं पाती। बच्चे को गुस्सा आता है, उसे अपनी माँ बुरी लगने लगती है। भीड़ में माँ की ऊँगली छूट जाती है, बच्चा खो जाता है। मारे डर के जब वह रोने लगता है तब गुब्बारेवाला, टोपीवाला, मिठाईवाला उसे अपनी-अपनी चीज़ें देकर शांत करने की कोशिश करते हैं। बच्चा हर चीज़ लेने से इन्कार करता है। उसे सिर्फ़ अपनी माँ चाहिए।

अमेरिका में सारी सुविधाएँ हैं, लेकिन माँ खो गई है। उस खोई हुई माँ की खोज के लिए हम सब भाई-बहन यहाँ इकट्ठा हुए हैं।

आज मैंने 'सेवाग्राम से शोधग्राम' जैसा आत्मकथात्मक विषय क्यों चुना? आप लोगों से क्या बातें करूँ इस बारे में जब मैं सोच रहा था कि मुझे एक सुविचार याद आया। I hate quotations tell me what you know (सुभाषितों से मुझे नफ़रत है, आप जो जानते हैं, वही मुझे बताइये) इस अवतरण ने जैसे मुझे डाँटकर कहा, पांडित्य का दिखावा नहीं करना, जो जानते हो वही कहना।

आप सबके सामने प्रदर्शित करने योग्य मेरे पास कुछ भी नहीं। न पद, न प्रतिष्ठा, न सत्ता। मैं सुदामा, सोने की द्वारिका में आते वक्त अपने साथ क्या लाऊँ? आपके लिए सिर्फ़ एक कहानी लाया हूँ। कहानी मेरी ही है। वजह यह है कि मैं इस कहानी के सिवा और कुछ भी नहीं जानता। कहानी सुन लेने के बाद कहानी से मुझे निकाल देना, सिर्फ़ मेरे सफ़र को याद रखना। इस कहानी का नायक मैं नहीं हूँ, समाज है - लोग हैं। मैंने तो सिर्फ़ उसे महसूस किया है, इसलिए मैं वही बयान करूँगा। और फिर यह कहानी मेरी होने के बावजूद हर एक की भी हो सकती है।

## सेवाग्राम से शोधग्राम



कार्ल रोज़र्स नामक सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक हमेशा कहा करते थे, Things we consider most personal are the most

general मुझे ऐसा लगता है कि इस बात का अनुभव सिर्फ़ मैं कर रहा हूँ, क्योंकि आखिर हम सब हाड़-मांस के इन्सान हैं। इसलिए केनिफोर्निया हो या कॅलगरी या गडचिरोली, जब हम सब समान हैं तो यह कहानी भी हम सबकी हो सकती है।

मेरा बचपन गाँधीजी के सेवाग्राम आश्रम में बीता। आज मैं जहाँ रहता हूँ, उस जगह का नाम हमने 'शोधग्राम' रखा है, इसलिए इस कहानी का शीर्षक है "सेवाग्राम से शोधग्राम"।

गाँधीजी का प्रभाव मेरे जन्म से भी पहले मुझ पर पड़ने लगा था। स्व. जमनालाल बजाज ने गाँधीजी के मार्गदर्शन में मातृभाषा में शिक्षा देनेवाला भारत का सर्वप्रथम कॉलेज वर्धा में शुरू किया। उसी समय मेरे पिताजी ने नागपुर विश्वविद्यालय से पाँच स्वर्णपदकों सहित अर्थशास्त्र की उपाधि प्राप्त की थी। उस समय यह किसी पराक्रम से कम नहीं था। जमनालाल बजाज ने उस कॉलेज में मेरे पिताजी को अर्थशास्त्र के अध्यापक के रूप में नियुक्त किया। बयालीस का स्वतंत्रता आंदोलन शुरू हुआ था। पिताजी भूमिगत हुए पर पकड़े गये और दो-तीन साल कारावास भुगतना पड़ा। १९४५ में छूटे। क्षितिज के उस पार देश की आज़ादी उदय स्पष्ट दिख रहा था। अपने हाथों आज़ाद भारत की ज़्यादा सेवा हो सके, उसके निर्माण में योगदान का अवसर मिले, यह सोचकर मेरे पिताजी ने अर्थशास्त्र के विशेष अध्ययन के लिए अमेरिका जाना चाहा। ओहायो विश्वविद्यालय में प्रवेश मिला, छात्रवृत्ति मिला, वीज़ा भी मिले।

१९४५ में अमेरिका में पढ़ाई किसी भी भारतीय के लिए जीवन की महान घटना मानी जाती थी। वहाँ जाने से पहले गाँधीजी का आशीर्वाद लेने पिताजी उनकी कुटिया में गए। प्रणाम करके उनके पास बैठे और कहा, 'मैं जेल से अभी छूटा हूँ। अर्थशास्त्र के विशेष अध्ययन के लिए अमेरिका जा रहा हूँ। आप का आशीर्वाद चाहिए।' उत्तर में गाँधीजी ने इतना ही कहा, 'अर्थशास्त्र सीखना है तो अमेरिका की बजाय भारत के देहातों में जाओ।'।



### सेवाग्राम आश्रम

बापू की कुटी से बाहर आकर पिताजी ने अपने सफर के सारे कागज़ात और ओहायो विश्वविद्यालय का प्रवेशपत्र फाड़ डाला। एक महीने में अपने कॉलेज के दस-बारह विद्यार्थियों के एक समूह के साथ वर्धा के पास वे एक गाँव में जा बसे। वहाँ किसानों की तरह जीकर, खेती करते हुए ग्रामीण-अर्थशास्त्र समझने का प्रयास करने लगे।

उस घटना को पचपन वर्ष गुज़र चुके हैं। आज ८३ वर्ष की आयु में मेरे पिताजी उसी उमंग और उत्साह से देशभर में गाँधीजी का कार्य कर रहे हैं।

क्या जादू था गाँधीजी में? उन्होंने पिताजी से एक ही वाक्य कहा और पिताजी की पूरी ज़िंदगी ही बदल गई। जादू यह था कि गाँधीजी जो कहते थे, वही करते थे। जब वे अहमदाबाद से वर्धा आए तब जानबूझ कर देहात में जाकर बसे। शेगाँव नाम के एक अतिसाधारण गाँव का सेवाग्राम में रूपांतर किया। सेवाग्राम की एक कुटिया में ज़मीन पर बिछी चटाई के सिंहासन पर बैठकर जब वह वृद्ध कहता 'भारत के देहातों में जाओ' तब शब्द और आचरण एकरूप हो जाने से उनके शब्द ब्रह्मास्त्र बन जाते।



महात्मा की शक्ति कहने में नहीं, करने में थी। ऐसे सेवाग्राम आश्रम में मैं पला-बढ़ा।

मैं जब बड़ा हो रहा था तब गाँधीजी इस भौतिक जगत में नहीं थे, लेकिन उनका अस्तित्व हर जगह छाया हुआ था। बाँस और मिट्टी के कुटीरों में, आश्रम की प्रार्थना भूमि में, खेतों में, गौशाला में, खादी के लिए बने कबीर भवन में, अपने हाथों से मालिश करके गाँधीजी ने कुष्ठरोगी परचुरे शास्त्रीजी की जहाँ सेवा की थी, उस कुटी में और मेरी पाठशाला में, सर्वत्र। मेरी पाठशाला खुद गाँधीजी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने मिलजुल कर शुरू की थी। मेरी माँ उस पाठशाला की आचार्य थी। नई तालीम के सिध्दांतों पर चलने वाली वह पाठशाला शिक्षा के एक जादुई द्वीप के समान थी। भूदान पदयात्रा में शामिल होने के लिए हमारी पाठशाला में छुट्टी रहती थी। विनोबा की ऊँगली थाम कर पदयात्रा करते हुए मैंने बहुत सोचविचार के बाद एक बड़ा ही गंभीर सवाल किया था, 'आप देहातों का ग्रामदान करने और अनाज का ग्राम-भंडार करने के लिए लोगों को समझाते हैं, पर जमा किया हुआ अनाज चूहे खा जाएँगे तब क्या करेंगे?' विनोबा खूब हँसे थे।

इस उत्कृष्ट वातावरण में पल कर मैं बड़ा हुआ और मेडिकल कॉलेज में गया। वहाँ मुझे बहुत कुछ मिला, पर मेरी सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि थी रानी। कॉलेज के प्रथम वर्ष का पहला ही दिन था। डिसेक्शन हॉल में मेरा एक मित्र मिला। दूसरी मेज़ पर डिसेक्शन में मग्न, झुकी हुई एक लड़की को दिखाकर वह बोला, "देखो उसे, वो है चन्द्रपुर की रानी चारी। पिछले साल वह फर्स्ट आई थी, पर उम्र कम होने से उसे इस वर्ष प्रवेश मिला है। तुम इस साल के टॉपर हो। अब तुम्हारी स्पर्धा उस के साथ है, होशियार रहना।" किंतु परिचय होने के बाद मुझे पता चला कि लाखों में खेलने वाली यह लड़की सूती साड़ी पहन कर झोंपड़े में रहना चाहती थी - कुछ करना चाहती थी। मेरा और रानी का सपना एक था।

इसी पृष्ठभूमि पर एम. डी. की डिग्री हासिल की। रानी से मेरी शादी हुई। शादी के बाद हम दोनों ने वर्धा के आसपास के देहातों में स्वास्थ्य सेवाएँ प्रारंभ कीं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं क्योंकि वह १९७८ का वर्ष था। आपात काल अभी-

अभी ख़त्म हुआ था। भारतीय समाज के नवनिर्माण की आशा लेकर, जयप्रकाशजी के आह्वान पर मेरे जैसे अनेक युवा, देहातों में उत्साहपूर्वक कार्य करने लगे थे। हमारा सपना सादा और सरल था- भारत की ज़्यादातर जनसंख्या देहातों में बसी हुई थी। बीमारी-मौत से घिरी हुई। उनकी परिचर्या करने के साथ इन देहातों को सुधारना था। सेवा और समाज-सुधार का यह सीधासादा सपना लेकर हमने वर्धा के पास बसे कान्हापुर नामक छोटे से गाँव में स्वास्थ्य सेवाओं का प्रारंभ किया। तीन साल तक उस गाँव के हर व्यक्ति का इलाज हमने किया होगा। गाँव के किसान हमें चाहते थे। उनको सुधारने की हमारी कोशिशों को वे प्रेमपूर्वक बरदाश्त करते थे।

एक दिन गाँव में एक दुर्घटना घटी। श्रेशर मशीन पर काम करते हुए अजाबराव इवनाते नामक एक मजदूर का हाथ मशीन में फँस कर पूरी तरह से कुचल गया। पता चलते ही हम दौड़कर वहाँ पहुँचे। अस्पताल में पूरा हाथ ही काटना पड़ा। कुछ महीने बाद वह ठीक तो हुआ पर अपाहिज भिखारी जैसी उसकी हालत हो गई। स्वास्थ्य समस्याओं को हल करना सिर्फ़ मरहमपट्टी करना तो नहीं होता, ऐसा हम समझते थे। हमने इस समस्या को सुलझाना चाहा। हमने सुझाव दिया कि अजाबराव का मालिक किसान हर्ज़ाने के तौर पर उसे तीन एकड़ ज़मीन दे दे। कान्हापुर के अधिकांश किसानों को यह सुझाव नापसंद था। उनका मानना था कि अगर इस तरह का रिवाज़ शुरू हुआ तो हर खेतमजदूर को नुकसान भरपाई देना पड़ेगा। फिर भी इस मुद्दे को समाज के सामने रखना तो चाहिए, यह सोचकर हमने उस रात एक सभा बुलवाई। सामान्यतः ऐसी सभाओं में सैकड़ों लोग आते थे पर उस रात सिर्फ़ तीन आदमी वहाँ मौजूद थे। हमने माईक पर बोलना शुरू किया तो घर-घर से हम पर पत्थर पड़ने लगे। जहाँ दो-तीन साल तक लोगों को दवाईयाँ दी थी, इलाज किया था, उसी गाँव में हमें पत्थर के प्रसाद मिले।

दिसम्बर का महीना था। रात के बारह बजे थे। बाहर कड़ाके की ठंड थी। हम भी अंदर से सर्द हो चुके थे। हमारे सारे सपने टूट कर चूर-चूर हो गए थे। उसी वक्त टूटा



हुआ मन लेकर रानी और मैं कान्हापुर से अपने घर लौट आए। सिर्फ़ वैद्यकीय परिचर्या किसी भी गाँव की समस्याएँ नहीं सुलझा सकतीं, आज हमने यह पाठ सीखा।

तो फिर भारत के लोगों के, गाँव के लोगों के स्वास्थ्य और सामाजिक समस्याओं को पहचाने कैसे? कान्हापुर में आखिर हमने कहाँ ग़लती की? इस पर विचार करते हुए एक दुःखद तथ्य सामने आया। भारत की जनता के सारे रोगों की खोज अभारतीय लोगों ने भारत में आकर की है।

मलेरिया भारत की प्रमुख बीमारी है, जो मच्छरों से फैलती है। यह खोज करने वाले वैज्ञानिक थे ब्रिटन के रोनल्ड रॉस। वे भारत आए, संशोधन किया और मलेरिया का राज़ खुला। हैजा Vibrio Cholerae नामक विषाणु से होता है, यह रॉबर्ट कॉक ने ढूँढा। वह था यूरोप वासी। उसने भी भारत आकर यह खोज की थी। मेरे देश में फैली बीमारियों की खोज विदेशी कर रहे थे और मेरे देश के वैज्ञानिक गाँव में जाने के लिए तैयार नहीं थे। अगर गाँव में गए भी तो संशोधन तो हरगिज़ नहीं करते थे। करते भी तो किस तरह? न तो वहाँ प्रयोगशाला है, न दवाखाने हैं, कोई सुविधा ही नहीं है। देहातों में रहकर ही आरोग्य विषयक संशोधन किस तरह करना चाहिए, यह सीखने के लिए मैं और रानी बाल्टिमोर के जॉन्स हॉपकिन्स विश्वविद्यालय पहुँचे। हमारा मुख्य लक्ष्य सार्वजनिक स्वास्थ्य सुधार की तकनीक सीखना था। अमेरिका डॉलर की ही तरह ज्ञान से भी अत्यंत समृद्ध देश है। भारत के देहातों में संशोधन कैसे करना चाहिए, इस विषय के विशेषज्ञों और स्रोतों का भंडार था जॉन्स हॉपकिन्स विश्वविद्यालय। किस तरह अनुसंधान करना चाहिए, नये ज्ञान का निर्माण कैसे हो? यह हमने वहाँ सीखा और भारत लौटने का समय आ गया। लौटने के एक दिन पहले हमारे अध्यापक प्रा. कार्ल टेलर ने हमसे पूछा कि अब आप अमेरिका छोड़कर हमेशा के लिए जा रहे हैं, अपने साथ क्या-क्या ले जा रहे हैं? ढेर सारी किताबें, बहुत सारे पेपर्स और गाँववासियों को दिखाने और समझाने के लिए स्लाइड प्रोजेक्टर - बस इतना सामान लेकर १९८४ में हम भारत लौटे।



### शोधग्राम का प्रवेशद्वार

भारत के पाँच लाख गाँवों में लोगों की बीमारियाँ और मृत्यु कैसे कम हो - इसका रास्ता ढूँढना था। कहाँ से प्रारंभ करें, कहाँ डेरा डालें, इस बारे में सोचना था। मुंबई, दिल्ली और पूना की बड़ी-बड़ी शोध संस्थाओं के निमंत्रण थे। सारी सुविधाएँ थीं, वहाँ रहने की, शोध करने की, परंतु दिक्कत यह थी कि वहाँ से गाँव बहुत दूर थे। क्या करें? यह सोच ही रहे थे कि एक दिन एक कॉमिक्स में एक कथा नज़र आई। यह कॉमिक्स अपने चार वर्षीय बेटे आनंद को कहानियाँ सुनाने के लिए हम लाए थे। उस में अकबर बीरबल की एक कहानी थी।

अकबर ने एक बार बीरबल को राज्य के दस महामूर्ख ढूँढने का आदेश दिया। बीरबल ने खोजना शुरू किया। यह उस ज़माने की बात है जब मूर्ख आसानी से नहीं मिलते थे। एक के बाद एक नौ मूर्ख तो उसे मिल गए पर दसवाँ मूर्ख हाथ नहीं लग रहा था। अकबर ने जो अवधि दी थी, वह समाप्त होने को थी। बीरबल दसवें मूर्ख की खोज में दिल्ली के रास्तों पर आधी रात को भटक रहा था। अंधेरा छाया हुआ था। एक आदमी खिड़की से आती हुई रोशनी में रास्ते पर झुक कर कुछ ढूँढ रहा था। बीरबल ने देखा कि वह काफी देर से कुछ खोज रहा है। उसने जाकर पूछा 'क्या ढूँढ रहे हो?'



'मेरी हीरे की अंगूठी खो गई है। कब से ढूँढ रहा हूँ, मिल ही नहीं रही।'  
'यह तो मैं भी देख रहा हूँ, पर अंगूठी कहाँ खोई थी?'

'यमुना नदी के उस पार, जंगल में।'

'तो उधर ढूँढो, इधर क्यों ढूँढ रहे हो?'

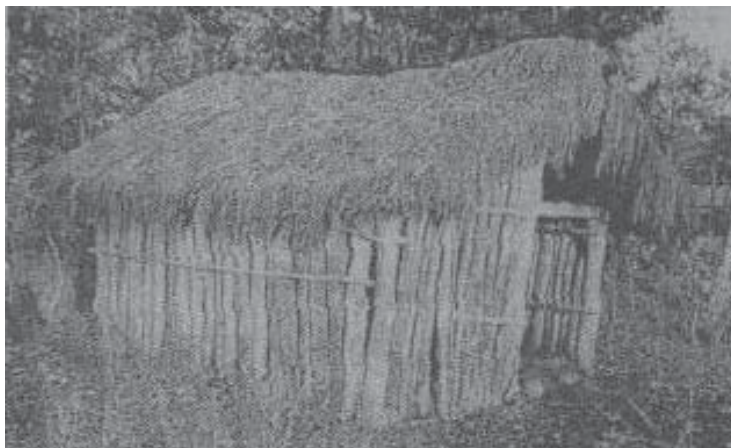
'अरे बाबा जहाँ खोई थी, वहाँ तो अंधेरा है। यहाँ रोशनी है, इसलिए यहाँ ढूँढ रहा हूँ।'

अंगूठी जंगल में खोई थी, लेकिन उसकी खोज दिल्ली के रास्ते पर हो रही थी। बीरबल को अपना दसवाँ मूर्खशिरोमणि मिल गया।

दुर्भाग्य से हमारे देश के अधिकांश चिकित्सा खोजों की ऐसी ही हालत है। आरोग्यरूपी अंगूठी खोई है देहातों में, पर उसकी खोज हो रही है शहरों में - जहाँ रोशनी है, सुविधाएँ हैं, वातानुकूलित कमरे हैं। पर समस्याएँ नहीं हैं। बिना समस्या के खोज चल रही है।

इसलिए हमने अपने कार्य का क्षेत्र गडचिरोली चुना। १९८२ में चंद्रपुर ज़िले का विभाजन कर गडचिरोली को अत्यंत पिछड़ा हुआ इलाका होने के कारण आदिवासियों का अलग ज़िला घोषित किया गया। जहाँ की ज़रूरतें और समस्याएँ सबसे ज्यादा हों, वहाँ पर हमें काम करना था, शोध करना था। इस तरह गडचिरोली ज़िले को अपना कार्यक्षेत्र चुन कर हम वहाँ पहुँचे। गडचिरोली ज़िला महाराष्ट्र के एकदम पूर्व में स्थित है।

उसके एक ओर मध्य प्रदेश की सीमा है और दूसरी ओर आंध्र प्रदेश की। नागपुर से दक्षिण की ओर २०० कि.मी. की दूरी पर यह बसा हुआ है। ज़िले की करीब ६० प्रतिशत ज़मीन पर जंगल है, जिसमें ज़्यादातर वृक्ष सागौन, महुआ और बाँस के हैं। ज़िला तीन ओर से नदियों से घिरा है। वैनगंगा पश्चिमी किनारे बहती है। इस नदी में जब बाढ़ आती है तब ज़िले के सारे नदी - नाले लबालब हो जाते हैं और कई जगहों पर मिट्टी के रास्ते टूट जाते हैं। चावल की फसल यहाँ के लोगों का प्रमुख आधार है। बरसात के चार महीने लोग चावल के खेतों में व्यस्त रहते हैं। बाकी के आठ महीने जंगल में जाकर लकड़ियाँ बटोरना-काटना, महुए



मासिक धर्म के दौरान महिलाएँ इसी झोंपड़ी में रहती थीं

के फूल, तेंदूपत्ते और घासफूस ढूँढते रहना और उस पर जैसे-तैसे ज़िंदा रहना, यही गडचिरोली का जीवन है।

लोग अतिशय निर्धन हैं। सरकारी स्रोतों के अनुसार वहाँ की ८० प्रतिशत जनता गरीबीरेखा के नीचे जी रही है। हम वहाँ जा बसे। दो-तीन महीने बाद एक सुबह देखता हूँ कि एक औरत घास में कुछ कर रही है। पास जाकर पूछा, 'यहाँ क्या कर रही हो?' उसने घास के बीज और फूलों से भरी एक टोकरी दिखाई। मैंने पूछा, 'इसका क्या करोगी?' उसने बताया, 'घर में अन्न का दाना तक नहीं है। इन फूलों और बीजों को उबाल कर बच्चों को खिलाऊँगी।' इक्कीसवीं सदी में भी गडचिरोली के आदिवासी को घास के बीज और जंगली फूलों से बच्चों का पेट भरना पड़ता है। साल में एक खास महीना ऐसा आता है, जब खाने के लिए कुछ भी नसीब नहीं होता, भूखे पेट ही सोना पड़ता है। हड्डियाँ निकल आती हैं। इस महीने को ये लोग 'हाडुक' महीना कहते हैं।

ज़िले की ४० प्रतिशत जनसंख्या आदिवासी है। माड़िया गोंड जाति के यह आदिवासी ज्यादातर जंगलों में बसते हैं। ६० प्रतिशत लोग गैरजनजातीय हैं। वहाँ के घरों की दीवारों पर आज भी आदिवासी जीवनशैली के चित्र



देखने को मिलते हैं। अंधविश्वास का साम्राज्य है। रोग व्याधि दूर कैसे हो? मराई और गडदेवता नामक देवियाँ व्याधि दूर करती

हैं। गाँव की सीमा पर महुए के पेड़ तले लकड़ी की बनी हुई मूर्तियाँ हमेशा रखी होती हैं। बीमार होने पर इनकी मन्त मानी जाती है। हर गाँव के बाहर जंगल में एक छोटी सी झोंपड़ी दिखाई देती है। कौन रहता है उसमें? उसमें गाँव की रजस्वला औरतें रहती हैं। रजस्राव के दौरान औरत घर में रह नहीं सकती। महाराष्ट्र में सर्वत्र यह परंपरा है कि रजस्वला औरत किसी को छू नहीं सकती, पर यहाँ तो उसे घर छोड़ कर जंगल में बनाई हुई झोंपड़ी में जाकर रहना पड़ता है। कभी-कभी किसी औरत को आठ-दस दिन तक रजस्राव होता है, उन्हें तो हर महीने आठ-दस दिन इस झोंपड़ी में गुज़ारने पड़ते हैं। इतनी छोटी सी झोंपड़ी में गाँव से दूर आठ दस दिन अकेले रहना मुश्किल है। ऐसा है यहाँ का जीवन। स्वास्थ्य विषयक उनकी मान्यताएँ, उनका व्यवहार यह सब भी इसी तरह परंपरागत रिवाज़ और अंधविश्वास पर आधारित है।

हम जब गडचिरोली गए, यातायात का एक मात्र साधन था-बैलगाड़ी। पर यह एकमेव साधन भी कई बार निरुपयोगी बन जाता। गरमी के दिनों में नदी सूख गई थी और उस पर पुल बनाया जा रहा था। पर पुल के बीच के खंभे ज़मीन में धँसने लगे और पुल का काम रुक गया। फिर कभी वह पूरा नहीं हुआ। यह अधूरा पुल गडचिरोली के रुके हुए विकास का प्रतीक है। अपूर्ण पुल, अपूर्ण विकास। बरसात में बाढ़ आती है और गाँव कई दिनों तक बाकी दुनिया से कट जाता है।

१९८६ में, मैं और रानी गडचिरोली पहुँचे। आज मैं आप लोगों से बात करने के लिए यहाँ आ पाया क्योंकि वहाँ का मोर्चा रानी ने संभाला हुआ है। जो मैं बोल रहा हूँ वह रानी और मेरी दोनों की ही बात है। गडचिरोली के लोगों ने बड़े यकीन से तेंदूपत्तों का पुराना गोदाम हमें दिया और कहा जो करना है वह यहीं करो। वह पुराना गोदाम बना हमारा प्रारंभिक शोध शिक्षा केंद्र, संगणक कक्ष - सब कुछ। उस पर हमने एक बोर्ड लगाया - SEARCH - गाँवासियों की स्वास्थ्य समस्याओं को सुलझाने के उपायों की खोज-सर्च।



### अस्पताल जो आदिवासियों को भाये

वहाँ पहुँचे और दूसरे ही महीने नदी में ज़ोरों की बाढ़ आ गई। गडचिरोली गाँव के चारों ओर पानी भर गया। हम भाड़े के जिस मकान में रहते थे, वह भी पानी से घिरा हुआ था। सात दिन तक हम घर से निकल नहीं पाए। बिजली नहीं, पीने का पानी नहीं, सब्जी नहीं, डाक-टेलिफोन कुछ भी नहीं। इन सबके अभाव में रहने का पहला अनुभव था। इस तरह गडचिरोली में 'सर्च' की शुरुआत हुई।

कान्हापुर के लोगों से हमें यह सीख मिली थी कि किसी पर अपने विचार थोपने से कभी कोई हल निकल नहीं पाता। इस बार हमने निश्चय किया कि लोगों की समस्याएँ उन्हीं के मुँह से सुननी चाहिए। गाँववालों की सभा बुलाकर उनसे बातचीत शुरू की। आपके स्वास्थ्य की प्रमुख समस्या कौन-सी है? उसके लिए क्या किया जाना चाहिए? जैसे सवाल हम उठाते। थोड़े दिनों में हमें पता चला कि ऐसी औपचारिक बैठकों में तो नेता लोग ही बोलते हैं जबकि असली आदिवासी खामोश रहते हैं। बाद में हमने इस औपचारिक सभाओं का आग्रह छोड़कर अलाव की बैठकों की शुरुआत की। रात के वक्त अलाव के चारों ओर बैठकर जब हम बातें करते, रात्रि के अंधकार में, अग्नि की उष्मा में आदिवासियों की



जुबानें खुलने लगीं, उन्होंने अपने मन की बातें बताईं। चालीस गाँवों में इस तरह की बैठक हुई। जब हमने पूछा, भाइयों आपके गाँव में अस्पताल है, पर आप वहाँ जाते नहीं।

इस सुविधा का फायदा क्यों नहीं उठाते? गाँववालों ने बताया, 'वहाँ अस्पतालों में हमें डर लगता है।'

'डर किस बात का?'

'पहला डर बड़ी-बड़ी इमारतों का। ऊँची मंज़िलों वाली इमारत में हम खो जाते हैं। कुछ समझ ही नहीं पाते। डर लगता है। दूसरा डर डॉक्टरों और नर्सों के सफेद कपड़ों से लगता है।'

'उससे डर कैसा? वे सफेद कपड़े पहनते हैं, उस बात से डरना किसलिए?'

'हम मुर्दों को सफेद कपड़ों में लपेटकर ज़मीन में गाड़ते हैं। जिसने खुद को सफेद कपड़ों में लपेटा है, वह किसी की जान क्या बचाएगा? दूसरे, वहाँ अस्पताल में गिट्टर-पिट्टर भाषा में बोलते हैं। हमारी समझ में तो कुछ आता ही नहीं। सबसे बड़ी आफ़त यह है कि मरीज़ को अस्पताल में भर्ती करने के बाद उसके सगे संबंधी को



### गोंड आदिवासियों का सामुदायिक भवन-घोदुल





माँ दंतेश्वरी मंदिर

बाहर निकाल देते हैं। कहते हैं, तीन से छह के दरम्यान आओ। अब हमारे पास घड़ी तो होती नहीं, कैसे पता चलेगा तीन से छह का ? १०० कि.मी. की दूरी से हम अस्पताल में आते हैं। बाहर जाकर कहाँ रहेंगे ? सगे-संबंधी गाँव वापस चले जाते हैं। मरीज़ कहने लगेगा, मैं भी जाता हूँ। और वह अस्पताल से भाग जाता है। उसे अपने सगे-संबंधियों के बीच मरना पसंद है, पर अस्पताल में अकेले रहना गँवारा नहीं।’

और आखिरी

समस्या - ‘इन अस्पतालों में भगवान ही नहीं होते। जहाँ भगवान नहीं, वहाँ आदमी कैसे ठीक होगा ? नहीं, हमें डॉक्टर के पास अस्पताल में नहीं जाना।’

‘तो फिर किस तरह का दवाखाना चाहिए ?’

‘जहाँ डर न लगे, अपना-सा लगे, दवाखाना, दवाखाना न लगकर, अपने घर जैसा लगे।’

इस कल्पना को लेकर हमने आदिवासी गाँव जैसे दिखनेवाले अस्पताल का निर्माण शुरू किया। हमारे इस अस्पताल में बाहर के मरीज़ों के लिए मेहमान-घर भी था। गोंड आदिवासी गाँव में एक झोंपड़ी ऐसी होती है, जिसे वे घोटुल कहते हैं, जहाँ गाँव का मेहमान रहता है। गाँव के बच्चे शाम को वहाँ नाचने-गाने आते हैं। अपने अस्पताल



का मेहमान-घर हमने घोटुल जैसा बनाया। अस्पताल में मरीज़ के रिश्तेदारों को उसके साथ नहीं रहने दिया जाता, यह इन लोगों की परेशानी थी। तो उसके लिए क्या करें ?

अस्पताल में मरीज़ों के लिए आज कल जिस तरह इन्तज़ाम है, वह उनके रिश्तेदारों के लिए सचमुच असुविधाजनक है। चालीस मरीज़ एक कतार में सोये हों, ऐसा इन्तज़ाम डॉक्टर - नर्स के लिए तो सुविधाजनक है क्योंकि एक साथ सभी पर नज़र रखी जा सकती है। परन्तु मरीज़ों के लिए यह व्यवस्था आनन्ददायक नहीं होती। उनके रिश्तेदार तो परेशान हो जाते हैं। इस बारे में आदिवासियों से बातें हुईं, सोचा कि कुटियों से बना हुआ अस्पताल क्यों न बनाया जाय। मरीज़ के साथ उसके रिश्तेदार भी वहाँ रह कर उसकी देखभाल कर सकेंगे। यह खयाल उन्हें इतना पसंद आया कि हम अपना निर्माणकार्य शुरू करें, उससे पहले ही उदेगाँव के आदिवासियों ने वहाँ आकर कुटियों का निर्माण प्रारंभ कर दिया। दूसरे गाँव के लोगों ने भी यही किया। एक साल में कुटीर अस्पताल तैयार हो गया।



स्वास्थ्य के लिए आदिवासियों की परिचर्चा

आदिवासियों की इच्छानुसार बना यह अस्पताल उनका अपना था। अब उसका नामकरण करना था। उन्होंने अस्पताल का नाम **माँ दंतेश्वरी अस्पताल** रखने का सुझाव दिया। मैं अमेरिका से अभी - अभी लौटा था। मुझे यह नाम अच्छा नहीं लगा। मैंने कहा, हम ज़रा आधुनिक नाम रखें तो बेहतर होगा। इस पर वे औरतें खड़ी हो कर बोली, 'डॉक्टर! अब यह आपका नहीं, हमारा अस्पताल है।' इस तरह माँ दंतेश्वरी अस्पताल बना।

दंतेश्वरी इन लोगों की सर्वोच्च देवी है। देवी के प्रति श्रद्धा अगर उन्हें अस्पताल तक लाने और रोगमुक्त होने के लिए प्रेरित करती है तो इस श्रद्धा का उपयोग क्यों न किया जाए? हमने अस्पताल के प्रवेशद्वार पर दंतेश्वरी देवी का मंदिर बनाया है। मरीज़ आकर पहले देवी के दर्शन करता है और फिर अस्पताल में भर्ती होता है। दंतेश्वरी देवी के नाम से हमने अपना आरोग्य संदेश गाँव-गाँव तक पहुँचाने का आयोजन किया। अगर हम उन्हें यह बताते कि विषाणु रोग फैलाते हैं तो वे कहते, कहाँ है विषाणु, दिखाई तो नहीं देते। उसके बदले हम ये कहते थे कि माँ दंतेश्वरी का संदेश है कि आप स्वच्छ रहें, टीके लगावाएँ, माँ की इच्छा है तो स्वीकार करना ही पड़ेगा।

हमने दंतेश्वरी के नाम पर एक वार्षिक मेला शुरू किया। ५०-६० गाँवों के लोग यहाँ आते, नाचते-गाते। मेले के साथ आदिवासियों की आरोग्य-सभा का आयोजन होता था। हर गाँव से मंडलियाँ आतीं, मिलकर सोचतीं कि हमारे आरोग्य की प्रमुख समस्या क्या है? उसके लिए कौन-से कार्यक्रम होने चाहिए? कौन-सा कार्यक्रम होना चाहिए, यह दिल्ली या मुंबई नहीं सोचेगी, डॉ. बंग भी तै नहीं करेंगे। यह फैसला करेगी आदिवासियों की आरोग्य-संसद। आरोग्य-संसद, जो भी निश्चित करती, उस पर हर गाँव की आदिवासी ग्रामसभा पुनर्विचार करती और फिर मनपसंद कार्यक्रम निश्चित किया जाता।

मलेरिया उनकी प्रमुख परेशानी है, यह लोगों ने खुद बताया। गाँव के आधे से ज़्यादा लोग बुखार से पीड़ित रहते हैं-खेती का कोई काम उनसे नहीं हो पाता। इस बीमारी के लिए क्या कर सकते हैं? हमने उनको कुछ विकल्प



दिए। लोगों ने उन विकल्पों में से अपने लिए जो चुने वे इस प्रकार थे -

प्रत्येक गाँव में एक स्वयंसेवक प्रशिक्षित किया जाय। साथ ही गाँव का पुजारी जो जड़ीबूटी बाँटता है, मंत्रतंत्र करता है, उसे भी प्रशिक्षण दिया जाए। फिर तो पुजारी भी मलेरिया के इलाज की जानकारी और प्रशिक्षण लेने आने लगे। जब भी गाँव में मलेरिया ज़्यादा फैल जाता, 'सर्च' की टीम सिर पर दवाइयों और उपचार के अन्य साधन ढोकर पहुँच जाती। इस तरह आदिवासियों के साथ सहभागी पध्दति से हमने मलेरिया नियंत्रण अभियान प्रारंभ किया।

जहाँ से यह सब काम होते थे, वह जगह एक नई बस्ती थी। इस बस्ती

को हमने शोधग्राम नाम दिया। जहाँ स्थानीय ग्रामीणों के साथ मिलकर उनकी स्वास्थ्य - समस्या का हल ढूँढते थे उसी ग्रामीण परिवेश में बसा हुआ शोधग्राम।

रानी अस्पताल में रोज़ मरीज़ों की जाँच करती। वह स्त्री-रोग विशेषज्ञ है। गाँव की औरतें उससे अपनी बीमारियों का इलाज करवातीं। धीर-धीरे उसके ध्यान में आया कि महिलाओं में स्त्री-रोग बहुत बड़ी मात्रा में हैं। साधारणतः यह माना जाता है कि अविकसित देशों की महिलाएँ प्रमुखतः गर्भावस्था,



ग्रामीण औरतों की जाँच

प्रसूति और परिवार नियोजन की समस्याओं से पीड़ित हैं, परन्तु यहाँ की औरतें दूसरे ही, स्त्री-रोगों से घिरी हुई थीं। फिर भी अस्पताल में आनेवाली महिलाओं पर से कोई निष्कर्ष निकालना उचित नहीं था, क्योंकि अस्पताल में तो वे तभी आती हैं, जब उन्हें कोई तकलीफ होती है। अस्पताल में आनेवाला हर व्यक्ति बीमार ही होता है। उन मरीजों को देखकर गाँव में कौन-सी बीमारी किस अनुपात में फैली है, उसका अंदाजा नहीं लगाया जा सकता। पर हमें एक नया मुद्दा हाथ लगा कि ग्रामीण महिलाओं के स्वास्थ्य प्राथमिकताओं में स्त्री-रोगों का क्या स्थान है? क्या यह एक प्रमुख समस्या है?

वाशिंगटन की **नेशनल लायब्ररी ऑफ मेडीसीन** में जाकर खोज की। उस समय अविकसित देशों की ग्रामीण महिलाओं में स्त्री-रोग कितने अनुपात में फैले हुए हैं, किस प्रदेश की क्या स्थिति है - इन सबके बारे में एक भी अध्ययन उपलब्ध नहीं था। अस्पतालों के अनुभव गाँव के दृष्टिकोण से उपयुक्त नहीं होते। जो भी उपलब्ध था वह विकसित देशों के या फिर अस्पतालों के बारे में था। हमने एक प्रोजेक्ट की शुरुआत की - ग्रामीण महिलाओं में स्त्री-रोग का अनुपात कितना है? किस प्रकार के रोग होते हैं? इन सबकी जाँच-पड़ताल करना।

इसके लिए यह आवश्यक था कि हर ग्रामीण महिला की जाँच होनी चाहिए, चाहे वह रोगी हो, चाहे नीरोगी। ऐसा होने पर ही गुप्त-रोगों का पता चलेगा और गाँव में कितनी प्रतिशत महिलाएँ रोगग्रस्त हैं, इसका अचूक अनुमान हो पाएगा। आश्चर्य की बात तो यह हुई कि वसा और अमिर्जा इन दो गाँवों से लोगों ने आकर कहा कि हमें अपने-अपने गाँवों में यह जाँच करवानी है। दोनों गाँवों में जाँच प्रारंभ हुई। वह दिन सारे गाँव ने एक उत्सव की भाँति मनाया। कितने आश्चर्य की बात है - गडचिरोली जैसा अत्यंत पिछड़ा हुआ इलाका, जहाँ लोग बीमारियों के बारे में बात तक करने के लिए तैयार नहीं होते थे, वहाँ स्त्री-रोग पर शोध हुआ और सारे गाँव ने इस घटना को उत्सव की तरह मनाया।

छह महीने तक जाँच होती रही। गाँव की हर एक औरत की जाँच हुई। क्या हाथ लगा? निष्कर्ष यह निकला कि गाँव की



१२ प्रतिशत महिलाएँ स्त्री-रोग से पीड़ित हैं। घूमती फिरती हैं, घर और खेती के सारे काम करती हैं, पर उन्हें कोई न कोई अंदरूनी बीमारी है। अधिकांश औरतों के

गर्भाशय में, योनिमार्ग में रोग थे, संसर्गजन्य तकलीफें थी, सूजन थी। रजस्राव की समस्याएँ थीं, श्वेतप्रदर या माहवारी की समस्याएँ थीं। उनमें से सिर्फ ८ प्रतिशत महिलाओं ने अपना इलाज करवाया था। हमारा यह अध्ययन **लैन्सेट** सरीखे विश्वप्रसिद्ध चिकित्सा शोध-पत्रिका में सन १९८९ में 'High prevalence of gynecological diseases in rural Indian Women' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। हमारी यह खोज विश्व में इस प्रकार की सर्वप्रथम खोज साबित हुई। इस शोध ने बताया कि ग्रामीण क्षेत्रों में १२ प्रतिशत महिलाएँ स्त्री-रोगों से पीड़ित हैं। विश्व आरोग्य नीति वालों की आँखें खुल गईं। संशोधन ने इतना बड़ा तहलका मचाया कि अमेरिकी विशेषज्ञ ने इसे 'The study of the decade in woman's health in developing countries' कहकर सम्मानित किया।

फलस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर चर्चा होने लगी कि आज तक हम परिवार नियोजन की बात करते थे, पर अगर महिलाएँ बीमार होंगी तो परिवार नियोजन अपनाएँगी कैसे? और फिर स्त्री-रोगों के इतने बड़े अनुपात से AIDS का प्रसार भी बड़े पैमाने पर होगा। फलस्वरूप इस विषय पर अनेक सेमिनारों में चर्चाएँ हुई, और भी कुछ घटनाएँ घटीं। नारी आंदोलन समस्त विश्व में ज़ोरों से चल रहा था। उसे भी इस शोध ने बल प्रदान किया। १९९४ में काहिरा में विश्वजनसंख्या नीति में परिवर्तन लाए गए। सिर्फ गर्भनिरोधक को लक्ष्य बनाने वाली पुरानी नीति के स्थान पर "Women's Reproductive Health" को लक्ष्य बना कर नई नीति का निर्माण किया गया। दो देहातों के इस छोटे से संशोधन ने विश्व आरोग्य नीति में बदलाव लाने की हिम्मत दिखाई।

पर बदलाव तो विश्वनीति में आया गडचिरोली तो वहीं का वहीं था। शोध-पत्रिकाओं में लेख प्रकाशित होने से गडचिरोली का आदमी कैसे बदलेगा? स्त्री-स्वास्थ्य विषयक जो शोध हुआ था, उस पर पहला अधिकार तो गडचिरोली

की जनता का था। इसलिए इस संशोधन से मिली जानकारी को गडचिरोली के तमाम देहातों में पहुँचाना जरूरी था। एक और आरोग्य-मेला आयोजित किया गया। यह एक आरोग्य यात्रा थी जिसका नाम था “स्त्री जागृति और आरोग्य मेला”। आठ घंटे का एक सांस्कृतिक कार्यक्रम तैयार किया गया और उसे गाँव - गाँव में प्रदर्शित किया। गाँव की महिलाएँ, जो पहले स्त्री-रोग के बारे में एक शब्द भी नहीं बोलती थीं, वे अतिशय उत्साह और प्रशंसा भाव से प्रदर्शनी देखने आने लगीं, समझने लगीं। इस कार्यक्रम में एक नाटक भी शामिल था, जिस का नाम था - पति का गर्भधारण। एक पुरुष अकस्मात् गर्भ धारण करता है। गर्भधारण की तकलीफें - वमन, सूजन, पेट का दर्द, सहता है। सारी तकलीफें उठाने के बावजूद जब प्राकृतिक प्रसूति नहीं होती तब सिज़ेरियन करना पड़ता है और एक लड़की का जन्म होता है। लोगों ने इस नाटक को खूब पसंद किया। देखने वालों का ताँता लगता। हमने देखा कि जब हम नाटक ले कर दूसरे गाँव में चले जाते, तो पहले गाँव के आदमी भी नाटक देखने आ पहुँचते। हम पूछते, ‘आपके गाँव में तो यह नाटक हो चुका है, फिर यहाँ किस लिए आए हो?’ वे बताते, ‘आप हमारे गाँव में आए तब हम गाँव में नहीं थे। जब घर लौटे तब हमारी औरतों ने ज़िद करके हमें नाटक देखने भेजा।’ वहाँ के विधायक ने जब देखा कि महिलाओं को यह नाटक बहुत पसंद आया है, वे नाटक देखने के लिए उमड़ पड़ती हैं तो उन्होंने एक प्रस्ताव रखा। उन्होंने कहा, ‘डॉक्टर साहब! इस नाटक का नाम बदल देते हैं-मैं खुद इसमें गर्भवान पति की भूमिका निभाऊँगा और हम इसका शीर्षक रखेंगे “विधायक का गर्भधारण।”’

इस तरह स्वास्थ्य विषयक जानकारी महिलाओं तक तो पहुँची। उन्होंने कहा, ‘हमें बीमारियाँ हैं, यह तो हमें पता चला, पर इसका करें क्या? आज तो हमें कुछ भी होता है, हम किसी वृद्ध महिला के कानों में चुपके से कह देती हैं कि कहीं दर्द है, क्या हो रहा है। ऐसी बातें खुलेआम करते नहीं। फिर उसका इलाज भी तो कहीं नहीं होता। अब ऐसी महिलाएँ अपना इलाज कैसे करवाएँ? हर गाँव में डॉक्टर नहीं होते। होते भी हैं तो ये महिलाएँ वहाँ जाती नहीं।’



ऐसे में हमें गाँव की दाइयों का खयाल आया। हर गाँव में ऐसी अनुभवी वृद्ध दाइयाँ तो होती ही हैं। वे ही प्रसूति कराती हैं। वे ही होती हैं, गाँव की प्रसूति रोग विशेषज्ञ। ऐसी दाइयों

को स्त्री-रोग विशेषज्ञ क्यों न बनाया जाय? ५० गाँवों से हमने दाइयों को न्योता दिया। तालीम शुरू हुई। अब इनको कक्षाओं में तालीम देना तो संभव था नहीं। गीत, नृत्य, मूक अभिनय जैसे माध्यमों से उनको हम सिखाने लगे। हाथों में दस्ताने कैसे पहनते हैं, यह समझने में उनको महीनों लगे। धीरे-धीरे गाँव की औरतों को क्या सिखाना-समझाना चाहिए, क्या ध्यान में रखना चाहिए, किस तरह स्वच्छ प्रसूति होती है, एन्टिसेप्टिक कैसे लगाते हैं, छोटी-मोटी बीमारियों के इलाज इन सबके बारे में उन्हें समझाया। दाइयों का पहला प्रशिक्षित बैच तैयार हुआ। जैसे कोई दीक्षांत समारोह हो। दवाओं का बैग लेकर वे बड़ी खुशी से अपने गाँव लौटीं।

बारह वर्ष बीत गए हैं। आज भी यह दाइयाँ हमारे साथ काम कर रही हैं। हमारे सामने प्रश्न था कि आखिर वे इधर क्यों आती हैं? हम उन्हें पैसे तो देते नहीं हैं। जहाँ वे प्रसूति के लिए जाती थी, वहाँ उन्हें थोड़े-से पैसे मिलते थे। सर्च के



स्वास्थ्य-रक्षक प्रमाणपत्र लेतीं निरक्षर दाइयाँ

मेहमान अगर पूछते कि आप यहाँ क्यों आती हैं ? क्यों सर्च के लिए काम करती हैं ? तो वे बतातीं , “इससे हमारी इज़्जत बढ़ती है।” एक बार हमारे मेहमान डॉक्टर ने उनसे खोद-खोदकर पूछा, ‘कुछ तो पैसे आप को मिलते ही होंगे ! आप यहाँ क्यों आती हैं ?’

इस पर एक वृद्ध दाई चिढ़कर बोली, ‘डॉक्टर घर में तुम्हारी पत्नी है ?’ उसने कहा, ‘है।’

‘वह कभी-कभार अपनी माँ के घर जाती है कि नहीं ?’  
‘जाती है।’

‘वह माँ के घर क्यों जाती है ? क्या वहाँ उसे पैसे मिलते हैं ? उसी तरह हम भी इधर आती हैं।’

रानी से इन लोगों ने बहुत सीखा। रानी के प्रति वे बड़ी कृतज्ञ थी। एक दिन एक दाई ने ऋणमुक्त होने की भावना से रानी को एक तरफ बुला कर कहा, ‘तूने तो हमें बहुत सिखाया। तू चाहे तो मुझ से कुछ सीख सकती है।’

रानी ने पूछा, ‘तुम मुझे क्या सिखाओगी ?’

तब वह बोली, ‘पति की पिटाई, यह मैं जानती हूँ, यह सिखा सकती हूँ।’

‘पर पति की पिटाई किसलिए ?’

‘नहीं, कभी-कभी ज़रूरत पड़ती है। पति शराबी बन जाए, तब उसे सीधा करना पड़ता है। कभी किसी औरत को किसी और मर्द से रिश्ता रखना होता है - तब उसे पति पसंद नहीं आता। यह तो परंपरागत कला है। यह मैं सिखा सकती हूँ।’

खुशकिस्मती से रानी ने तो यह कला सीखी नहीं। पर जब उसने मुझे यह बात बताई, मैं कुछ निराश हो गया। काश ! इन महिलाओं से हमें जंगल के बारे में, वृक्षों के बारे में कुछ ऐसा ज्ञान प्राप्त हो, जो उनका अपना परंपरागत है, जिससे हम अवगत नहीं हैं। रानी ने जाँच-पड़ताल शुरू कर दी। दो खज़ाने हाथ लगे।

जंगल में करीब ३०० प्रकार के वृक्ष उगते हैं। इन वृक्ष-वनस्पतियों का प्रयोग सालों से इन महिलाओं ने कई तरह से अपनी जिंदगी में किया। असल में वृक्ष को देखने का इनका दृष्टिकोण कुछ अलग है। वह उनके कई काम



आता है-घरेलू कामकाज में, दवाई के रूप में, खाना पकाने के लिए, मोटी रस्सियाँ बनाने के लिए, पेट सँकने के लिए। वृक्ष के अनेक उपयोग वे करती हैं। ‘गोईण’ नामक एक पुस्तक प्रकाशित हुई है, जिसमें इन सबके बारे में लिखा गया है। गडचिरोली की भाषा में गोईण का अर्थ होता है-सखी। इन महिलाओं के लिए वृक्ष किसी सखी-सहेली से कम नहीं।

दूसरी बात यह ध्यान में आई कि इन महिलाओं के पास अपने लैंगिक और प्रजनन जीवन के विषय में अपना निजी शब्दकोश है, जो प्रचलित गोंडी भाषा से अलग है। ऐसी कई औरतों के पास बैठकर, इनसे बातें करके रानी ने ऐसे शब्द प्रयोगों का पता लगाया। यौन और प्रजनन जीवन संबंधी कुछ खास शब्द, जो खुलेआम कभी बोले नहीं जाते, उनके विचार, उनका आचरण-इन सबके बारे में रानी को जानकारी मिली। उसका संग्रह ‘कानोसा’ नामक पुस्तक में प्रकाशित हुआ। मुझे तो ‘कानोसा’ पुस्तक बहुत ही अच्छी लगी। परन्तु कई सुशिक्षित व्यक्ति इसे पसंद नहीं करते। कहते हैं, ‘हम इसे नहीं पढ़ते, अश्लील है, अपनी औरतों को दे देते हैं।’ दलित साहित्य भी जब पहली बार प्रकाशित हुआ था, तब उसके शब्द और अभिव्यक्ति को लेकर ऐसी ही प्रतिक्रियाएँ आई थीं। कोहराम मच गया था। मुझे ऐसा लगता है कि ग्रामीण नारियों के सबसे गुप्त शारीरिक अंगों के बारे में और उनके छिपे हुए जीवन के बारे में उन्हीं की भाषा में बताने वाली महाराष्ट्र की सर्वप्रथम पुस्तक ‘कानोसा’ है।

उसके बाद एक अजीब घटना घटी। दो गाँव के कुछ मर्द हमारे पास आकर कहने लगे कि जिस तरह आपने हमारी औरतों की जाँच की, इलाज किया, उसी प्रकार आप हमारी भी जाँच कीजिए। हमें भी बहुत तकलीफ है। हमारी स्थिति ऐसी है कि न कहते बनता है, न सहते।

सच कहूँ, मुझे तो विश्वास ही नहीं हुआ। ‘हमारे यौन अंगों की चिकित्सा कीजिए’ ऐसा लोग अपने आप कहें, यह एक चिकित्सक के लिए सपने जैसा है। उनका कारण हमें बाद में पता चला। वहाँ उन मर्दों के पैरों पर हमने सूजन देखी थी। उस प्रदेश में हाथीपाँव(फायलेरिया)का रोग बहुत फैला हुआ था। जब जाँच

किया तो समझ में आया कि पैरों की सूजन तो रोगरूपी हिमशिला का सिर्फ एक छोटा-सा शिखर है। उस इलाके के २५% पुरुषों का हायड्रोसिल बढ़ा हुआ था। पैरों की सूजन फायलेरिया से ही थी पर फायलेरिया पुरुषों में हाईड्रोसिल पैदा करता है। बेचारे मरीज़ बढ़े हुए हायड्रोसिल को मुश्किल से अपने कपड़ों में छिपाए फिरते थे। जैसे महिलाओं ने अपनी तकलीफें छिपाई थी, वैसे ही पुरुषों ने भी अपनी यह परेशानी छिपाई। हमने हायड्रोसिल का ऑपरेशन करना प्रारंभ किया। उसके लिए जब हम शिविर का आयोजन व विज्ञापन करते, वहाँ पुरुषों की कतारें लगतीं। चंद्रपुर के डॉ. सालफळे व अमेरिका के डॉ. गंगाधर महीवार नियमित रूप से हमारे यहाँ आते और उनकी सहायता से हम इस पुरुषरोग शिविर का आयोजन करते।

एक बार शाम जब मैं शोधग्राम लौटा। बारिश का मौसम था। शाम के सात बजे थे। ज़ोरों की बारिश हो रही थी। बाहर अंधेरा छाया हुआ था। अचानक घर में दो महिलाएँ घुसी। एक युवा माता थी, दूसरी बच्चे की दादी थी। माँ के हाथ में तीन चार महीने का छोटा-सा बच्चा था। बच्चे के पूरे बदन पर झुर्रियाँ थीं। शरीर में सिर्फ हड्डी और चमड़ी बचे थे, जैसे ज़िंदा ममी। उसे रह रहकर झटके लग रहे थे। उसे जाँच के लिए आया देख मैं फौरन उठा और अपने ही बिस्तर पर उसे सुलाया, जाँच की। हालत काफी गंभीर थी। स्टेथिस्कोप छाती पर रखा तो बुड-बुड की आवाज आ रही थी। न्यूमोनिया था। मैं आगे कुछ भी कर नहीं पाया, बच्चे की सांस वहीं मेरे बिस्तर पर ही थम गई।

‘क्या हुआ था बच्चे को? आप लोग पहले ही क्यों नहीं आए?’ सिसकते हुए माँ और दादी ने सारी बातें बताईं। माँ का पहला बच्चा एक दुर्घटना का शिकार हो गया था। वह एक और बेटा चाहती थी। गर्भ ठहरने पर वह खुश तो हुई, पर घर में दरिद्रता थी। पति शराबी था। गर्भवती माँ मज़दूरी करके पेट पालती। बच्चा जनम से ही दुर्बल था। परंपरानुसार पहले तीन दिन बच्चे को दूध नहीं दिया गया। दूध पिलाने गई तो पता चला कि उसका अपना दूध सूख गया है। गाँव में एक भाग दूध और चार भाग पानी मिला हुआ जो सफेद तरल



मिलता था, उसे गंदे बॉटल में पिलाने लगी। बच्चे का पेट खाली रहता। भूख के मारे रो-रो कर उसकी आवाज़ बंद हो गई। फिर दस्त होने लगे। किसी ने सलाह दी और

जादूटोना मंत्र-तंत्र किए गए। कोई फ़ायदा नहीं हुआ। किसीने कहा, ‘दूध खराब है, बंद कर दो।’ वह भी किया और बच्चे को सिर्फ साबुदाने का माँड दिया जाने लगा। पहले से ही दुर्बल बच्चा इन सबसे और भी दुर्बल होता चला गया। न तो कोई स्वास्थ्य सेवा उस तक पहुँची, न वह किसी स्वास्थ्य सेवा के पास पहुँच सका। पति शराब पी कर धुत्त पड़ा रहता। माँ को तो मलेरिया था ही, बच्चे को भी बुखार हो गया। उसकी हालत अत्यंत नाजुक हो गई। भगत-मांत्रिक-तांत्रिक आए, मुर्गी काटी फिर भी बच्चा ठीक न हुआ। उस दिन सुबह हालत अतिशय गंभीर हो गई थी, माँ और दादी उसे लेकर शोधग्राम आए। शोधग्राम से उनका गाँव सिर्फ चार कि.मी. दूर था, पर बारिश ने अंतर लंबा कर दिया। बीच में एक नदी पड़ती थी जो इस वक्त दोनों किनारों तक उफन रही थी। नदी के इस पार शोधग्राम, उस पार माँ और दादी और पल-पल मर रहा बच्चा। दोनों कभी बच्चे को देखती, कभी बढ़ आई बाढ़ को। सालों से पुल बन रहा है, पर भ्रष्टाचार के कारण घटिया काम हुआ और बाँध ज़मीन में धँस गया। उसके बाद उसे अधूरा ही छोड़ दिया गया था। शाम हो गई। शाम को पानी कम हुआ तब उन्होंने नदी पार की और शोधग्राम पहुँचे। लेकिन तब तक देर हो चुकी थी।

एक बच्चे की मौत की इस कहानी को अगर हम वैद्यकीय दृष्टि से देखें तो क्या नतीजा निकलेगा? यह एक कम वज़नवाला बच्चा था। उसे दस्त हुए, कुपोषण तो था ही, फिर न्यूमोनिया हुआ और बच्चा मर गया। परन्तु यह कहानी इतनी सरल नहीं। इसके साथ और भी कई चीज़ें जुड़ी हुई हैं। जैसे बच्चा कम वज़नवाला क्यों था? क्योंकि वह गर्भाशय में ही कुपोषित था। कैसे? क्योंकि माँ कुपोषित थी। उसे ठीक से खाना नहीं मिलता था। कई बार गर्भावस्था में माँ इस डर से कम खाती है कि अगर बच्चा ज़्यादा भारी हो गया तो प्रसूति में तकलीफ होगी। तो पेट में बच्चा भूखा रहा। जन्म के बाद तीन दिन दूध नहीं दिया। फिर

दस्त हुए। उसके बाद भी कोई स्वास्थ्य-सेवा नहीं मिली। मंत्र-तंत्र का सहारा लिया गया। साबुदाने का माँड दिया, कुपोषण बढ़ा, न्यूमोनिया हुआ, फिर भी चिकित्सा नहीं मिली। आखिर गाँव से स्वास्थ्य-सेवा का अंतर, नदी की बाढ़, पुल का भ्रष्टाचार-कुल मिलाकर अठारह कारण बच्चे की मौत के लिए ज़िम्मेदार ठहरते हैं।

अठारह कारण इस अकाल मौत के लिए ज़िम्मेदार हैं यह हकीकत निराशाजनक है। भारत में इन अठारह कारणों का हल कब निकलेगा? महिलाएँ कब साक्षर होंगी? उन्हें भरपेट खाना कब मिलेगा? वे कब मलेरिया से निजात पाएँगी? उनका कुपोषण कब कम होगा? यह सब संभव नहीं, परन्तु इन अठारह कारणों के साथ एक और बात भी इसमें निहित है और इन तमाम समस्याओं का हल उसी में छिपा है। एक बच्चे को बचाने के लिए पूरी अठारह समस्याओं का हल ज़रूरी नहीं है, क्योंकि मौत की इस शृंखला की अगर एक ही कड़ी टूटेगी तो अपने आप पूरी शृंखला टूट जाएगी। अगर स्त्री शिक्षित हो, अगर पुरुष शराब छोड़ दे, अगर अंधविश्वास मिट जाए, अगर स्वास्थ्य-सेवा घर-घर पहुँचें, न्यूमोनिया का उपचार हो सके, पुल होता, रस्ता बनता-कुछ भी हो पाता तो बच्चा बच सकता था।

नवजात शिशुओं को बचाने के लिए हमने शोध शुरू किया। सौ गाँवों को हमने अपनी प्रयोगशाला बनाया। उन गाँवों के हर बच्चे के जन्म और मृत्यु का पंजीकरण हमने किया। फिर मृत्यु के लिए ज़िम्मेदार कारण ढूँढे। बच्चा क्यों मरणासन्न हुआ? जाँच के बाद हमारे ध्यान में आया कि न्यूमोनिया बालमृत्यु की सबसे बड़ी वजह थी। ४० प्रतिशत मृत्यु तो उसीसे होती थी। दूसरे देशों से भी कुछ इसी तरह के परिणाम मिले। अंत में दुनिया के छोटे बच्चों का सबसे बड़ा दुश्मन न्यूमोनिया साबित हुआ।

न्यूमोनिया के निदान के लिए तो एक्स-रे मशीन चाहिए। यह तो हर गाँव में सुलभ नहीं होते। एक्स-रे मशीन की बात तो दूर, स्टेथिस्कोप और उसे इस्तेमाल करनेवाले डॉक्टर भी हर गाँव में नहीं पहुँचते। तो क्या करें? न्यूमोनिया



में प्रधान लक्षण खाँसी है। साथ में सर्दी, कफ़। खाँसी बार-बार होने भर से न्यूमोनिया साबित नहीं होता। और जब तक वह साबित नहीं होता, बच्चे तक एंटीबायोटिक कैसे

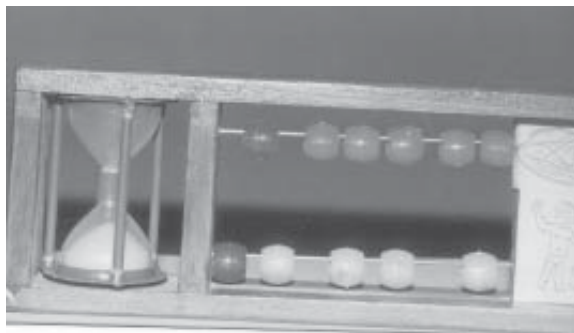
पहुँचेगी-बड़ा महत्वपूर्ण सवाल है।

पापुआ न्यु गिनी में फ्रेंक शान नामक एक डॉक्टर ने इसके लिए एक सरल पध्दति खोज निकाली थी। बच्चे की साँसें गिनने की पध्दति। अगर बच्चे की साँसें प्रति मिनट ५० से ६० हैं तो न्यूमोनिया। एक्स-रे या स्टेथिस्कोप के बैगर यह गिनती हो सकती है। सचमुच यह एक सुन्दर और सरल पध्दति थी, जिसका हमने इस्तेमाल करना चाहा। हालाँकि यह कम मुश्किल नहीं थी। क्या माँ-बाप बच्चे को लेकर दवा लेने आएँगे? खाँसी तो आम तौर पर होती रहती है। वे कैसे जानेंगे कि बच्चे को न्यूमोनिया ही हुआ है? दवाईयाँ कहाँ से लेंगे? दवा लेने के बावजूद बालमृत्यु कम होंगे कि नहीं?

यही हमारे संशोधन का विषय तै हुआ-जिसके लिए १०४ गाँवों को अनुसंधानक्षेत्र निश्चित किया गया। उसमें आधे गाँवों में न्यूमोनिया का अद्यतन उपचार करना और आधे गाँवों में कुछ न करना, सिर्फ सरकारी कार्यक्रम और निजी सेवाओं से वहाँ क्या होता है, वह देखना -यह भी तै हुआ।

माँ-बाप को जानकारी देने से शुरुआत की। एक बच्चा था - रामू। मर गया। क्योंकि माँ-बाप को पता ही न था कि उसे खाँसी के साथ न्यूमोनिया हुआ है। माँ-बाप न्यूमोनिया को कैसे पहचानें, गाँव में दो शब्दप्रयोग प्रचलित थे, उनके बारे में पता चला। ये दो शब्द थे 'लहाक' और 'धापा'। इन दो शब्दों के प्रयोग से लोग फौरन समझ जाते थे। लोग न्यूमोनिया के लिए 'डब्बा' शब्द का प्रयोग करते थे। हमने उनको बताया कि अगर बच्चे को 'लहाक' और 'धापा' है तो समझ लो, उसे 'डब्बा' हुआ है। उसकी दवा लेनी पड़ती है। लोगों को यह बात बड़ी आसानी से समझ में आई। उसके पोस्टर्स बनवाकर गाँवों में लगाए गये।

फिर गाँव से एक युवक को चुना। उसे हमने 'आरोग्य दूत' नाम दिया। उसकी शिक्षा पाँच, सात या आठ कक्षा तक की थी। उसे हमने खाँसी से पीड़ित



निरक्षर दाइयों का श्वासनापक यंत्र

बच्चे की जाँच, श्वास मापन सब सिखाया। अगर बच्चा दो महीने से कम उम्र का है और उसकी साँसे प्रति मिनट ६० से ज्यादा हैं तो उसे

न्यूमोनिया हुआ है। और अगर बच्चा दो साल से बड़ा है और उसकी साँसे प्रति मिनट ४० से ज्यादा हैं तो उसे भी न्यूमोनिया है। यह एकदम सीधी सरल जानकारी उसे दी। परंतु मुसीबत तो सामने खड़ी ही थी। पढ़ेलिखे लड़के साँसे गिन सकते हैं, पर निरक्षर दाई कैसे साँसे गिनेगी? वे तो ५०-६० तक के अंक भी गिन नहीं सकती। उनके लिए हमने एक छोटा सरल साधन बनाया। उसका नाम था 'श्वासमापक यंत्र'। क्या था उसमें? उसमें एक रेतघड़ी थी। जो एक मिनट का समय बताती है। पास ही दो क्षैतिज सलाखें हैं, जिसमें ऊपर की सलाख पर पाँच मोती लगे हैं-चार हरे, पाँचवा लाल। नीचे की सलाख पर पाँच हरे और एक लाल मिलाकर छह मोती हैं। हमने दाई को इसके प्रयोग की जो विधि बताई, वह इस प्रकार है।

खाँसी वाले बच्चे को सामने बिठाकर पहले यंत्र को उल्टा करें। साथ ही बच्चे की ओर देख कर साँसे गिनना शुरू करें। अगर बच्चा दो महीने से अधिक का है, तो दाई पहली लाईन के मोती गिनेगी। हर दस साँस गिनकर वह एक मोती खिसकाएगी। अगर सारे मोती सरक जाने के बाद भी रेतघड़ी पूरी नहीं होती तो बच्चे को न्यूमोनिया है, यह तै है। दस तक गिनती तो सभी को आती है। इस तरह हमने इन दाइयों को साँसे गिनने की तालीम दी। प्रशिक्षण समाप्त होने पर हमने उनकी परीक्षा ली। उन्होंने ४० बच्चों की साँसे उस श्वासमापक से नापकर अपना इम्तहान दिया। बाद में मैंने स्टेथिस्कोप से उन बच्चों का परीक्षण किया।



मेरा और दाइयों का नतीजा ८२% तक समान निकला। इस तरह वे ८२% डॉक्टर बन गई थी।

इस यंत्र से जिस बच्चे को न्यूमोनिया साबित हो जाता, उन बच्चों को दाई या आरोग्यदूत एंटीबायोटिक दे देते। इस प्रकार न्यूमोनिया का इलाज ठीक ढंग से होने लगा। हम सावधानी से उसका परिणाम देखते थे। बच्चे का जन्म-मृत्यु लिख लेते। जब बच्चों के न्यूमोनिया का इलाज नहीं होता था, तब उनकी मृत्युदर १२% थी और जिनका इलाज हुआ था, उनमें मृत्युदर ८% थी।

बारह सालों में हमारे आरोग्य दूतों ने करीब छह हज़ार न्यूमोनिया से पीड़ित बच्चों का इलाज किया। सारे मामलों का रिकॉर्ड हमने कम्प्यूटर में रखा है। मृत्युदर थी ०.५ प्रतिशत। हम १९.५ प्रतिशत बच्चों के इलाज में सफल हुए थे। गाँव की निरक्षर दाई और प्राथमिक शिक्षित आरोग्य दूत भी न्यूमोनिया का सफल इलाज कर सकते हैं, यह साबित हो गया। १९८८ से १९९० तक न्यूमोनिया का इलाज होने से, न्यूमोनिया द्वारा मृत्युदर ७४% कम हो गई और कुल बालमृत्यु दर (आई.एम.आर.) में २५ प्रतिशत कमी आई। हमारी यह खोज १९९० में **लैन्सेट** में प्रकाशित हुई थी। विश्व स्वास्थ्य संगठन और जॉन्स हॉपकिन्स विद्यापीठ के संयुक्त उपक्रम से इस विषय पर हुए तमाम संशोधनों की एक समीक्षा आयोजित की गई थी, उसमें हमारा यह अध्ययन सर्वोत्कृष्ट ठहराया गया।

विश्व में प्रति वर्ष ४० लाख बच्चे न्यूमोनिया से मारे जाते हैं, यह विश्व स्वास्थ्य संगठन का निष्कर्ष है। इनमें से १० लाख सिर्फ भारत के होते हैं। भारत के कुल एक करोड़ बच्चे प्रतिवर्ष न्यूमोनिया का शिकार होते हैं। इन बच्चों तक न्यूमोनिया का उपचार फौरन पहुँचना चाहिए। हमारी यह सरल पध्दति भी अगर उन तक पहुँची तो मृत्युदर कुछ हद तक ज़रूर कम हो जाएगी।

१३ दिसम्बर १९९१ में वॉशिंगटन में एक विश्व परिषद का आयोजन हुआ। उसका नाम था 'ग्लोबल कॉन्फरन्स ऑन अक्यूट रेस्पिरेटरी इन्फेक्शन'। उसमें बच्चों के श्वास रोग और न्यूमोनिया के नियंत्रण हेतु निम्नलिखित प्रस्ताव पारित हुआ।



"Train millions of community health workers to diagnose and treat pneumonia in children, ensure antibiotic supply and educate mothers about pneumonia"

यह प्रस्ताव **सर्व** के और इसी प्रकार की दूसरी खोजों पर आधारित था। आज यह पध्दति ७७ देशों में अपनायी जाती है। बाल मृत्युदर (IMR - Infant mortality Rate) १२ प्रतिशत से ८ प्रतिशत तक कम हुई, पर इससे अधिक कम नहीं हो रहा था। परीक्षण करने पर पता चला कि बाकी की मृत्यु प्रमुखतः नवजात शिशुओं की होती थी। जन्म से लेकर जीवन के पहले २८ दिन को नवजात कहते हैं। इस समयावाधि में जितने मृत्यु होते थे, उन्हींकी संख्या बाकी बचे हुए मृत्युदर के लिए ज़िम्मेदार थी।

नवजात शिशु अगर बीमार पड़ता तो उसका इलाज अस्पताल में ही हो सकता है। वहाँ इस आपत्ति से जूझने के बड़े-बड़े साधन होते हैं। 'नियोनेटाल इन्टेन्सिव केअर युनिट्स' होते हैं। नवजात शिशुओं का पूरा स्वास्थ्य अस्पतालों में ही फँसा पड़ा है। विश्व स्वास्थ्य संगठन भी यही कहती है कि नवजात बच्चा अगर बीमार पड़ जाए तो उसे हाथ भी नहीं लगाना चाहिए। उसे अस्पताल में भर्ती कर देना चाहिए। क्या पता, उसे कब क्या हो जाए? परंतु मुश्किल यह है कि गाँव-गाँव में अस्पताल होते नहीं। जो होते हैं, वह महंगे हैं। फिर माँ-बाप भी अपने नवजात शिशु को घर से बाहर निकालने के लिए या अस्पताल में ले जाने के लिए तैयार नहीं होते।

कहाँ पर जन्म लेते हैं ये बच्चे? कहाँ मरते हैं? भारत में हर साल २.६ करोड़ बच्चे पैदा होते हैं, जिसमें ७५% का जन्म देहातों में होता है। उनमें से ८४% प्रसूति घर में होती है, अस्पताल में नहीं। और फिर घर पर जिन बच्चों का जन्म होता है, वे कैसी जगह पर अपने जीवन की पहली साँस लेते हैं?

हमारे गडचिरोली के मुडझा गाँव में एक प्रसूता का कमरा देखिए। अंधेरे से भरपूर, स्वच्छ हवा का नामोनिशान तक नहीं। कमरे के पास ही



गौशाला है। ऐसे बीमार माहौल में प्रतिवर्ष भारत के ढाई करोड़ बच्चे जन्म लेते हैं। वहीं पर वे पलते हैं, बड़े होते हैं, जिंदा रहते

हैं या मर जाते हैं। भारत में प्रतिवर्ष दस से बारह लाख नवजात शिशुओं की मृत्यु हो जाती है।

प्रसूति की यह अंधेरी जगह, जहाँ प्रतिवर्ष दस लाख बच्चों की अकालमृत्यु होती है, यही हमारा नया कुरुक्षेत्र बना। देहातों में इन नवजात शिशुओं तक स्वास्थ्य सेवा कैसे पहुँचायी जाए, यही हमारा नया ध्येय बना। उसके लिए हमने **फील्ड ट्रायल** की। गडचिरोली ज़िले के ३९ गाँवों को कार्यक्षेत्र बनाया। दूसरे ४७ गाँवों को निष्क्रिय क्षेत्र के रूप में रखा। प्रयोग के अंत में हमें यह देखना था कि दोनों क्षेत्रों में क्या अन्तर रहा? प्रारंभ के दो सालों में हमने इन दोनों क्षेत्रों के सिर्फ जन्म-मृत्यु दर ही देखे। दोनों में जन्मदर, मृत्युदर और नवजात शिशु मृत्युदर एक-से थे। उसके बाद ३९ देहातों में सरकारी कार्यक्रम तो नियमित रूप से चालू थे, हमने कुछ नहीं किया। हम सिर्फ आँकड़े दर्ज़ करते रहे। इस तरह हमारे इस विराट प्रयोग का प्रारंभ हुआ।

सबसे पहले वस्तुस्थिति का परीक्षण किया। देहातों की औरतें गर्भावस्था में ठीक से खाना नहीं खातीं, अंधेरी-अस्वच्छ जगह पर प्रसूति होती है, नवजात बच्चे को यूँ ही पड़ा रहने देते हैं और वह खुला ही रहता है, दिन में दो बार उसे ठंडे पानी से स्नान कराते हैं, सर पर टोपी भी नहीं बांधी जाती। ऐसे में अगर माँ - बच्चा दोनों में से कोई बीमार पड़ गया तो उनका इलाज घर पर ही जादू टोने से होता है।

इस पारंपारिक रवैये को बदलना ही पड़ेगा। पर शुरू कैसे करें? शुरू किया तत्कालीन आँकड़ों की जाँच से। गाँव में कितने नवजात शिशु रोगग्रस्त हैं? कौन से रोग हैं? गाँव की अंधेरी कुटिया में शोधार्थी गया ही नहीं है। जाएगा भी कैसे? बच्चों का जन्म तो कभी भी हो सकता है। वहाँ डॉक्टर या नर्स नहीं होते। कौन उपचार करेगा उनके रोगों का? कौन जाँच करेगा? हमने **'बेअर फूट ग्रामीण रिसर्चर,'** प्रशिक्षित करने की ठान ली।

हमारी पहली **बेअर फूट रिसर्चर** बनी हमारी ग्रामीण महिला काजुबाई।

आंबेशिवनी गाँव की, सिर्फ चौथी कक्षा तक पढ़ी हुई स्त्री। हर गाँव में हमने ऐसी रिसर्चर तैयार की, जिनकी संख्या ३९ थी। उनको विलेज हेल्थ वर्कर (आरोग्य दूत) बनाया। उन्हें बताया कि किस तरह नवजात शिशुओं को सँभालना चाहिए। प्रसूति के वक़्त उपस्थित रहना चाहिए, बच्चा पैदा होते ही उसकी साँसें, वज़न, शरीर का तापमान इन सबकी जाँच करनी चाहिए। उन सब चीज़ों को लिखकर, विस्तृत विवरण रखना चाहिए। कितने बच्चे बीमार पड़े, यह भी दर्ज़ होना चाहिए। एक महीने तक लगातार उनको देखते रहना चाहिए और उनका विकासक्रम, शारीरिक स्थिति आदि को भी दर्ज़ करना चाहिए।

आरोग्य दूत महिलाओं ने पहले साल ७६३ बच्चों का विस्तृत विवरण लिखा। **सर्च** के डॉक्टर महीने में दो बार जा कर उनका लिखा हुआ देखते और अपनी तरफ से जाँच करके तै करते कि उन्होंने सही लिखा है या नहीं। बच्चा बीमार होने पर अस्पताल में लाने का हरसंभव प्रयत्न करते। अधिकांश माँ-बाप अस्पताल के बजाय घर पर ही कुछ करना पसंद करते। इन सब चीज़ों को कम्प्यूटर में फीड किया। उससे हमें पता चला कि नवजात शिशुओं में रोग की दर कितनी है। पता चला कि ४३ प्रतिशत बच्चे जन्म से कुपोषित होते हैं। ऐसे बच्चे बीमारियों के शिकार भी जल्दी ही बनते हैं। ५४ प्रतिशत बच्चे ऐसी बीमारियों के शिकार बनते जिसमें डॉक्टरी सहायता की ज़रूरत होती थी। पर उनमें से कितने बच्चों को वह नसीब हो पाती थी? सिर्फ २.५ प्रतिशत बच्चों को। नवजात शिशुओं को स्वास्थ्य सेवा की इतनी ज़रूरत है और माँ उन्हें इलाज के लिए ले जा नहीं सकती-ऐसे में क्या करें? हम चिंता में डूब गये।

देश की स्वास्थ्य सेवा कैसी होनी चाहिए? कहाँ होनी चाहिए? इस पर चीन में १९५१ में पहली राष्ट्रीय पीपल्स हेल्थ काँग्रेस आयोजित हुई थी, उसमें एक बेहतरीन प्रस्ताव पेश किया गया था।

How for a mother on foot can walk with a sick baby? Health can must be available within that distance.



**बीमार बच्चे के साथ माँ जितनी दूर पैदल चल पाती है, उतने ही अंतर पर उसे स्वास्थ्य-सेवा उपलब्ध**

**होनी चाहिए।**

नवजात शिशुओं के लिए तो यह अंतर घर की दहलीज़ तक ही होना चाहिए क्योंकि इतना छोटा बच्चा तो घर की दहलीज़ पार कर ही नहीं सकता और माँएँ भी परंपराओं-से बँधी होती हैं। हम इस नतीजे पर पहुँचे कि स्वास्थ्य-सेवा बच्चे को घर पर ही मिलनी चाहिए।

घर-घर नवजात शिशु आरोग्य सेवा (Home based neonatal care) के लिए एक नई योजना हमने बनाई। इस योजना के चार आधारस्तंभ हैं - पहले तो माँ। कोई भी माँ हो, वह बड़ी ही सतर्कता से, चौकन्नेपन से, प्यार से बच्चे का खयाल रखती है। बच्चे की चिंता माँ से ज़्यादा और किसे होगी? जैविक कारण से वही सच्ची नवजात बाल विशेषज्ञ (Neonatologist) होती है, इसलिए माँ को हर तरह का स्वास्थ्य शिक्षण दिया जाना चाहिए। बच्चा कैसे जिएगा! क्या करने से मर जाएगा? यह बताया जाना चाहिए। आमतौर पर प्रचलित खेल है सापसीढ़ी, उसीके माध्यम से क्या करने से ऊपर जाएँगे (बच्चा जिएगा) और क्या करने से नीचे आएँगे (बच्चा मर जाएगा) यह समझाया गया। स्वास्थ्य शिक्षण को ऐसे कई खेलों के माध्यम से सुलभ और सरल बनाया। ३९ गाँवों की महिलाओं ने यह सब सीखा। दो सालों के बाद उनका इम्तिहान लिया गया। हमने बीस स्वास्थ्य-संदेश माताओं को दिए थे। बीस में से अठारह संदेश पर उनका ज्ञान एवं मानसिकता करीब अस्सी प्रतिशत बदली। वास्तव में मानव व्यवहार बदलना बहुत मुश्किल है। हम सब कहते तो हैं-वज़न नियंत्रित रखिए, तीखा-तला हुआ मत खाइए। ऐसा हम सब कहते तो हैं पर घर पर अगर खाने की थाली देखेंगे तो क्या नज़र आएगा? फिर भी बच्चों के स्वास्थ्य संबंधित उनका आचरण ज़रूर सही होने लगा था।

‘नवजात बाल स्वास्थ्य सेवा’ का दूसरा आधारस्तंभ है गाँव की दाई क्योंकि यह नवजात बच्चों के जीवन में आनेवाली प्रथम व्यक्ति है और तीसरा स्तंभ



इन्क्यूबेटर का पर्याय मातृउर्जा

है गाँव की सदातत्पर बेअर फूट स्वास्थ्य कार्यकर्ता, आरोग्य दूत। बच्चों की जाँच और बीमार बच्चे का इलाज करने के लिए वे प्रशिक्षित थी। यही हमारी स्वास्थ्य सेविकाएँ हैं। जो भी वे सीखती हैं उसका प्रथम प्रयोग किसी गुड़िया पर करती हैं। नवजात बच्चे की साँस अगर अटक गई है तो पाँच मिनट में ही उसे चालू करनी पड़ती है। वर्ना बच्चा मर जाता है। ट्यूब और मास्क के प्रयोग से बच्चों को कृत्रिम साँस कैसे दी जाती है— यह हमारी स्वास्थ्य सेविकाएँ सीख रही हैं।

गाँव में एक विचित्र रिवाज़ यह है कि बच्चे को किसी कपड़े में लपेटकर नहीं रखते। वह खुला ही पड़ा रहता है और ठंडा पड़ जाता है। उसे उष्मा मिलनी चाहिए। कमज़ोर बच्चे को छोटे-छोटे स्लीपिंग बैग में रखकर, बैग को कंबल में लपेटकर माँ की गोद में रखना चाहिए। बड़े अस्पतालों में बच्चे को उष्मा देने के लिए 'इन्क्यूबेटर' होते हैं—गाँव में ऐसे यंत्र कैसे आएँगे—वहाँ तो माँ ही बच्चे का इन्क्यूबेटर है।

नवजात बालमृत्यु की एक बड़ी वजह थी संक्रामकता। आधे बच्चे तो संक्रमण से मर जाते हैं। स्वच्छता उसे रोक सकती है। फिर भी शिशु बीमार हो ही गया तो उसका इलाज है अन्टिबायोटिक। अन्टिबायोटिक कब और कैसे देनी चाहिए यह हमने आरोग्यदूतों को सिखाया। इसके लिए हमने एक सरल पध्दति भी बनाई थी। ज़रूरत पड़ने पर जेटामाइसिन इन्जेक्शन देने का प्रशिक्षण भी आरोग्य दूतों को हमने दिया।

उसके बाद देश के दस वरिष्ठ



बालरोगतज्ञों को हमने शोधग्राम में आमंत्रित किया। उनसे कहा, हमारे इन आरोग्यदूतों की परीक्षा लेकर बताइये कि इनके ज़रिये हम देहातों में काम कर सकते हैं या नहीं।

इन विशेषज्ञों में दिल्ली की ऑल इन्डिया इन्स्टीट्यूट ऑफ मेडिकल साइन्स के बालरोग विभाग के प्रमुख डॉ. मेहरबान सिंह और भारत में नवजात बालविज्ञान के भीष्म पितामह डॉ. रमेश पोतदार जो मुंबई के प्रसिद्ध बालरोगतज्ञ, प्रोफेसर और एशियन काँग्रेस ऑफ पिडियाट्रिक्स के अध्यक्ष थे और अन्य वरिष्ठ बालरोगतज्ञ मौजूद थे। इन लोगों की टीम ने हमारे ३९ बेअर फूट बालरोग निष्णात आरोग्य दूतों की तीन दिन तक परीक्षा ली। अंत में सबको प्रमाणपत्र देते हुए डॉ. मेहरबान सिंह ने कहा, 'गडचिरोली की ये ग्रामीण स्वास्थ्यसेविकाएँ नवजात शिशुओं के उपचार की जो जानकारी रखती हैं, वह एक मेडिकल ग्रेज्यूएट की जानकारी से कहीं ज़्यादा है।'

इस समिति ने हमारे साहसपूर्ण कदम को आशीर्वाद दिए और हरी झंडी दिखाई। हमारे आरोग्य दूतों ने घर-घर जाकर नवजात शिशुओं का उपचार शुरू किया।

क्या असर हुआ इस कार्य का ? उपचार से पहले १७ प्रतिशत बच्चे मर जाते थे। इन ग्रामीण सेविकाओं ने ज़रूरत पड़ने पर इन्जेक्शन और योग्य उपचार से मृत्युदर २.८ प्रतिशत तक कम कर दिखाया। उनको जो भी आता था उसका गलत इस्तेमाल कभी नहीं किया। गलत निदान भी नहीं किया। बोस्टन की नवजात बालतज्ञ नर्सरी में जितने बच्चों को अन्टिबायोटिक दिया गया था, लगभग उतने ही ६ प्रतिशत बच्चों को इन लोगों ने अन्टिबायोटिक दिया था। इन्जेक्शन का कोई अवांछित परिणाम ? आज तक बेअर फूट आदिवासियों ने ३००० इन्जेक्शन दिए। बाद में हर एक से प्रत्यक्ष पूछा गया। इन्जेक्शन के अवांछित परिणाम का एक भी केस नहीं मिला। एक भी शिकायत नहीं आई।

इस प्रायोगिक कार्यक्रम का पूरे क्षेत्र के नवजात बाल मृत्युदर पर क्या असर पड़ा ? हमने जहाँ काम नहीं किया था वहाँ बाल मृत्युदर ५८ से ६०% रहा

अर्थात् यथावत रहा। जहाँ दाइयों और आरोग्य दूतों ने घर-घर सेवा दी थी वहाँ मृत्यु दर ६० प्रतिशत से गिरकर तीन वर्ष में २६ प्रतिशत हुआ यानी बालमृत्यु में ६२% कमी आई। अमेरिका में यह दर दस प्रतिशत गिरी थी। हमारे प्रायोगिक कार्यक्रम को अच्छा प्रतिसाद मिला। नवजात शिशु जब बीमार पड़ता था तब उसे छूने की हिम्मत विश्व स्वास्थ्य संगठन भी नहीं करता था क्योंकि उनकी मार्गदर्शिका में लिखा है कि अगर नवजात शिशु बीमार है तो उसका इलाज घर पर नहीं हो पाएगा, उसे अस्पताल में ही ले जाना चाहिए। पर अस्पताल तक नवजात शिशु पहुँच नहीं पाता। यही वजह थी कि नवजात शिशु को बचाने का अभियान आगे बढ़ नहीं पा रहा था।

और क्या था इस नूतन पध्दति का खर्च? प्रति शिशु २५० रुपये; प्रति देहात ८,००० रुपये। इस पध्दति से एक जान बचाने की, एक मृत्यु टालने की कीमत हुई ५,००० रुपये। अगर एक बच्चा भारत के औसत आयु के हिसाब से ६० वर्ष जिएगा तो एक वर्ष का खर्च ८० रुपये हुआ। अर्थात् अस्सी रुपये में एक इन्सान को एक साल की उम्र मिली।

मानवजीवन का एक वर्ष बचाने में जो कीमत चुकानी पड़ती है उसका निष्कर्ष निकालने के लिए विश्व स्वास्थ्य संगठन तथा विश्व बैंक से विविध स्वास्थ्य कार्यक्रम घोषित किए जाते हैं। उसमें माँ और बच्चों की स्वास्थ्य सेवा के अधिकांश कार्यक्रम में एक साल के आयुदान का खर्च बताया गया है १,५०० रुपये से लेकर २,५०० रुपये तक। गडचिरोली में जो नवजात बाल स्वास्थ्य सेवा पध्दति चल रही है उसका इस पर खर्च है ८० रुपये। अर्थात् यह कम खर्च में ज्यादा लाभ पहुँचाने वाली पध्दति है।

**लेन्सेट** के दिसम्बर १९९९ अंक में हमारा यह प्रयोग प्रकाशित हुआ। विश्वभर के स्वास्थ्यतज्ञों का ध्यान इस प्रयोग ने आकर्षित किया है। दूसरी जगहों पर भी यह प्रयोग होना चाहिए यह सोचकर, उसका आयोजन करने हेतु विश्व स्वास्थ्य संगठन ने हाल ही में एक परिषद का आयोजन किया था। भारत सरकार के आदेश पर इन्डियन काउन्सिल ऑफ मेडिकल रिसर्च ने



गडचिरोली की स्वास्थ्य सेवा पध्दति को भारत के अन्य राज्यों में भी लागू करने के लिए व्यापक योजना बनाई है। अमेरिका के बिल गेट्स फाउन्डेशन ने 'Save the

Child' संगठन को २४० करोड़ रुपये का अनुदान हमारी इस स्वास्थ्य सेवा पध्दति को अन्य अविकसित देशों में कार्यान्वित करने के लिए दिया।

एक स्थान पर हुए इस संशोधन का इतना व्यापक परिणाम हुआ। किसने किया है यह? देहातों की भोलीभाली महिलाओं ने। आजी, आई, दाई और बाई। सीधी-सादी महिलाएँ और उनके सीधे-सादे उपकरण। बच्चे का वजन करने के लिए छोटा सा वजनकाटाँ, ट्यूब, मास्क, थर्मामीटर, सिरीज और नीडल, म्युकस अॅस्पिरेटर इन सादे उपकरणों को अपने साथ लिए ये महिलाएँ गाँव के घर में जाती हैं, नवजात शिशुओं की परिचर्या के तरीके सिखाती हैं और उन्हें मौत के मुहँ में जाने से रोकती हैं।

न्यूमोनिया से जो बालमृत्यु होते थे, उनमें किस तरह कमी आई यह हमने देखा। अब हर घर में जो नवजात बाल-सेवा शुरू हुई थी उसका नतीजा देखते हैं।

१९८८ में जब हमने गडचिरोली में बालमृत्यु समस्या को लेकर कार्य प्रारंभ किया था तब कुल शिशु मृत्युदर (IMR - Infant Mortality Rate) १२१ प्रति हजार था अर्थात् साल में प्रति हजार १२१ बच्चे मृत्यु का शिकार हो जाते थे। न्यूमोनिया का इलाज होने लगा तब IMR में कमी आई। १२१ से उतर कर वह ७५-८० तक आया। उसके बाद पाँच वर्ष तक IMR वहीं पर रहा, और कम होने का नाम ही नहीं लेता था। हमारी कोशिश विफल हो रही थी। फिर घर-घर नवजात बालसेवा शुरू हुई और IMR फिर से और इस बार फौरन नीचे उतरा। तीन साल में प्रतिहजार ३९ हो गया। २००० में ३० हुआ। गडचिरोली की जनता देहातों में बसती है। आज भी ८० प्रतिशत लोग गरीब रेखा के नीचे जी रहे हैं। ७० प्रतिशत महिलाएँ निरक्षर हैं। दवाखानों में डॉक्टर नहीं आते। समाजसुधार के शुभ दिन की प्रतीक्षा में बैठे रहना संभव नहीं है। पर हम देहातों के लोगों की,

## सेवाग्राम से शोधग्राम

खास करके महिलाओं की सहायता से IMR और भी कम करने की कोशिश ज़रूर कर सकते हैं। विश्वभर में इस तरह से बाल मृत्युदर कम करने की कोशिश कर सकते हैं।

बालमृत्यु की समस्या सिर्फ गडचिरोली या भारत की नहीं है। दुनिया के तमाम अविकसित देशों में IMR ४० से ६०% या उससे भी ज़्यादा है। कनाडा में ६% है। बालमृत्यु की दिशा में हमें एक लंबा सफर तय करना है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के आँकड़े (१९९६) बताते हैं कि दुनिया भर में प्रतिवर्ष ५० लाख नवजात शिशु मरते हैं। कुल एक करोड़ बच्चे मरते हैं। अगर गडचिरोली की पध्दति विकसित की जाय तो लगभग ६० लाख बच्चों की जानें बचाई जा सकती हैं।

दोस्तो! अनुसंधान की अपनी एक ताकत होती है। आर्कमिडिज़ ने कहा था, 'मुझे इच्छित लंबाई की एक लकड़ी मिल जाए तो मैं पृथ्वी को उसकी धुरी से हिला सकता हूँ।' ज्ञान की ताकत भी विलक्षण होती है, जिसके फल सारी दुनिया को प्राप्त हो सकते हैं। अँल्विन टॉफ़लर ने कहा है, आज के युग में शक्ति और संपत्ति का रूप बदल गया है। आज संपत्ति के स्रोत खेती, कारखानें या धनराशि नहीं है। बीसवीं और इक्कीसवीं सदी में ज्ञान और सूचना संपत्ति-शक्ति के स्रोत होंगे। ज्ञान की सदी में जो ज्ञान का निर्माण करेगा उसीके हाथ में शक्ति होगी। शक्ति के इस बदलते हुए समीकरणों से सामाजिक कार्यों का, समाजसेवा का रूप बदल रहा है। आज एक जगह पर एक मरीज़ का इलाज करने के बजाय सामूहिक स्वास्थ्य पध्दति से हज़ारों का इलाज किया जा रहा है। अनुसंधान होता है, करोड़ों लोगों को उसके मीठे फल मिल सकते हैं, कई समस्याओं का समाधान हो सकता है।

हालाँकि शोध दो शर्तों पर होने चाहिए। पहली शर्त है शोध के लिए समस्या का चयन करना, उसका समाधान लोगों के सहयोग से ढूँढना; दूसरी शर्त है कि शोध का इस्तेमाल पेटेन्ट लेकर बैंक बैलेन्स बढ़ाने के लिए न करना। समस्या जिनकी है उन तक शोध के फायदे पहुँचाने चाहिए। ऐसा शोध करना भी समाजसेवा का ही एक रूप है।

यह शोध करना हमें किसने सिखाया ?  
गाँधीजी ने कहा, देहातों में जाओ। अमेरिका में शोध



## सेवाग्राम से शोधग्राम



के तरीके सीखे। गडचिरोली के लोगों ने संशोधन के लिए समस्याएँ बताईं और उनका समाधान करने की शक्ति दी।

संशोधन का हमारा यह अनुभव एक चीनी कविता में सही मायने में प्रकट होता है।

**लोगों तक जाओ**

**उनके साथ रहो**

**उन्हें अपनाओ, उनसे सीखो**

**जो वे जानते हैं वहीं से आरंभ करो**

**जो उनके पास है उसी से निर्माण करो।**

हमने इसकी एक-एक पंक्ति का अनुसरण किया।

हमारी इन खोजों का मराठी जनता से क्या संबंध? एक ही उदाहरण काफी है-बालमृत्यु। बालमृत्यु की समस्या क्या केवल गडचिरोली में ही है? हर साल महाराष्ट्र के किसी न किसी ज़िले से बालमृत्यु की खबरें आती हैं। महाराष्ट्र के नंदुरबार ज़िले में गर्मियों में ५०० बच्चे कुपोषण का शिकार होते हैं। पिछले साल गडचिरोली के अहेरी तहसील में बड़े पैमाने पर बालमृत्यु हुई। उससे पहले अमरावती ज़िले के मेळघाट तहसील में, उससे पहले धुळे में-महाराष्ट्र में इस तरह प्रतिवर्ष बालमृत्यु होती है। हर साल वही किस्सा-भूख, कुपोषण, स्वास्थ्यसेवा का अभाव और नतीजा बालमृत्यु। किसी भी समस्या का समाधान ढूँढने से पहले उसकी व्यापकता को समझना चाहिए। इसलिए महाराष्ट्र की कुल बाल मृत्युदर जानने के लिए हमने स्वयंसेवी संगठनों का एक समूह बनाया है। बाल मृत्युदर के संदर्भ में अध्ययन-समूह और कार्य-समूह की मदद से दो वर्षों में महाराष्ट्र के दस ज़िलों में २३१ गाँव और शहर की छह झोंपड़पट्टियों को मिलाकर कुल २ लाख २७ हज़ार लोगों में जन्म-मृत्यु दर का संपूर्ण सर्वेक्षण हम कर रहे हैं। महाराष्ट्र में प्रतिवर्ष एक से दो लाख बच्चे मरते हैं। लातूर या कच्छ के भूकंप में दस हज़ार लोग मारे गए। पर महाराष्ट्र में एक से दो लाख बच्चे प्रतिवर्ष मृत्यु का शिकार बन जाते हैं।

दोस्तो! बच्चे सबसे ज्यादा असहाय होते हैं। उन्हें मताधिकार नहीं, उनके पास कोई सत्ता नहीं, उनके पास पैसे नहीं, वे विरोध नहीं कर पाते, जूलूस

नहीं निकाल सकते, स्ट्राइक पर जा नहीं सकते और तो और, फरियाद के लिए एक पत्र भी तो नहीं लिख सकते। वे सिर्फ रो सकते हैं या ठंडे पड़कर चुपचाप मर सकते हैं। हम उन्हें मरने दे रहे हैं। इन बालमृत्यु में ६० प्रतिशत बालमृत्यु टाले जा सकते हैं फिर भी बच्चे मरते ही रहते हैं। खलील जिब्रान ने कहा था, 'वृक्ष की मूक सम्मति के बिना उसका एक पत्ता भी गिर नहीं सकता।' महाराष्ट्र के एक से दो लाख बालमृत्यु को हम सबने मूक सम्मति दी है, हम सभी जिम्मेदार हैं। इसलिए उसे रोकने की जिम्मेदारी भी हमारी ही है। वे गरीब हैं, कमज़ोर हैं इसलिए कुदरती नियमानुसार जिंदा रहने की स्पर्धा में टिकने के लिए सक्षम नहीं हैं- यह कहकर हम सभी हाथ ऊपर नहीं कर सकते।

वेंडेल बेरी ने ठीक ही कहा था कि तिलचट्टे और चूहे जिंदा रहने की स्पर्धा करते हैं, और माँग तथा आपूर्ति के सिद्धांत पर जीवित रहते हैं जबकि मनुष्य को न्याय और करुणा से जीने का सम्मान प्राप्त है। यह सम्मान हम लाखों मृतप्राय बच्चों को कैसे दिला पाएँगे ?

अनिवासी भारतीयों की आवाज़ अब भारत में भी सुनाई देती है। इस आवाज़ का अब भारत में भी असर है। बहुत कुछ करने की ताकत इनमें है। फिर भी मार्ग थोड़ा कठिन है। अमेरिका और कनाडा स्वर्गभूमि हैं। सारी सुखसुविधाएँ यहाँ उपलब्ध हैं। परन्तु इन देशों की प्रकृति एकांतवादी और सीमित है। 'औरों के सुखदुःख से मुझे क्या लेनादेना' - यह है इन देशों की मानसिकता। इन देशों में रहनेवालों की मानसिकता भी धीरे धीरे ऐसी ही हो जाती है। यहाँ के टी.वी. पर भारत से संबन्धित कार्यक्रम या खबरें शायद ही दिखाई जाती हैं। अभी हाल ही में एक किस्सा पढ़ा। एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन ने एक विश्वस्तर का सर्वे किया और विविध देशों के निवासियों से एक सवाल पूछा - What do you think about food scarcity in rest of the world? **“शेष विश्व में खाद्यान्नों की कमी के बारे में आपके क्या विचार हैं?”** सर्वे पूरी तरह विफल रहा क्योंकि रशिया के लोगों को 'विचार' का अर्थ पता नहीं था। कनाडा के लोगों को 'कमी' क्या है यह समझ में नहीं आया। अफ्रिकन अन्न क्या है यह नहीं समझते थे और अमेरिकन



नहीं जानते थे कि 'शेष विश्व' के लोग कौन हैं ?

दूसरी समस्या यह है कि अमेरिकन संस्कृति अहंवादी-व्यक्तिवादी संस्कार देने वाली एक महाइंडस्ट्री है। हर चीज़ को देखने के लिए उनके पास एक ही चश्मा है, 'इसमें मेरे लिए क्या है ? मुझे क्या मिलेगा ?' इस अहं को कहीं तृप्ति नहीं मिल पाती। It is a bottomless pit. यह सीमित, एकांतवादी, अहंवादी और मात्र अपना स्वार्थ सिद्ध करने की मानसिकता इन्सान को अकेला बना देती है। मैं, मेरा अमेरिका, मेरी समृद्धि इसे छोड़ बाकी की सारी दुनिया से मेरा कोई नाता नहीं, ऐसा उसे लगता है। ऐसी कैद में खुद फँस कर, दूसरे से अलग होकर, अंदर के अकेलेपन से व्याकुल होकर वह मुक्ति के लिए तड़पता है। मुक्ति कहाँ है ? चीखता है।

दोस्तो ! इस कैद से आज़ाद होने का एक ही उपाय है-दूसरों के साथ अनुबंध जोड़ना। गाँधीजी ने एक बार कहा था कि 'There is enough on this earth for everybody's need but not for everybody's greed' **पृथ्वी पर सबके लिए सब कुछ है, पर इन्सान की लोभवृत्ति इतनी विराट है कि सिर्फ एक आदमी के लोभ के लिए भी पृथ्वी छोटी पड़ सकती है।** बिल गेट्स आज विश्व के सबसे अमीर इन्सान हैं, पर क्या वे अपनी संपत्ति से संतुष्ट हैं ? इसलिए अपनी इच्छाओं को सीमित रखना, दूसरों के लिए हमदर्दी जताना और सबके प्रति अपने कर्तव्य निभाना ही सबके लिए मुक्ति का मार्ग है। यहाँ से वहाँ तक एक विराट पुल बाँधने की आवश्यकता है-प्रेम का पुल, करुणा का पुल। जिसके ऊपर चढ़कर आप पहुँच सकते हैं उन खेतों में जूझ रहे लोगों तक, उनके बच्चों तक। इसीसे आप भी बच पाएँगे और उन्हें भी बचा पाएँगे।

दोस्तो ! कोई भी एक समस्या लो। दूसरों पर अहसान करने के लिए नहीं बल्कि अपनी मुक्ति के लिए। मेरी तरह उलझे हुए किसी आदमी ने एक बार गाँधीजी से पूछा था, "जब स्वार्थ हमें अंधा बना दे, तब क्या करना चाहिए ?" गाँधीजी ने उत्तर दिया था, **“तुम्हें एक जन्तार देता हूँ। जब भी तुम्हें**

संदेह हो या तुम्हारा अहम् तुम पर हावी होने लगे, तो यह कसौटी आजमाओ:

जो सबसे गरीब और कमज़ोर आदमी तुमने देखा हो, उसकी शकल याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम उठाने का तुम विचार कर रहे हो, वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा, क्या उससे उसे कुछ लाभ पहुँचेगा? क्या उससे वह अपने ही जीवन और भाग्य पर कुछ काबू पा सकेगा? यानि क्या उससे उन करोड़ों लोगों को स्वराज्य मिल सकेगा जिनके पेट भूखे हैं और आत्मा अतृप्त? तब तुम देखोगे कि तुम्हारा सन्देह मिट रहा है और अहम् समाप्त होता जा रहा है।”

अमेरिका-कनाडा में रहकर भारतीयों के लिए आप क्या कर सकते हैं? बहुत सारे उदाहरण आपकी आँखों के सामने हैं। डॉ. जगन्नाथ वाणी, डॉ. मदीवार ये लोग यहाँ रहकर भी अपने जीवन का कुछ ऋण वहाँ चुका रहे हैं। मैं क्या दे सकता हूँ? मेरे पास सबसे मूल्यवान क्या है? मेरा जीवन। अपने जीवन का कुछ हिस्सा मैं दे सकता हूँ। और क्या है मेरे पास? मेरे पास ज्ञान है, ज्ञान सुलभ है मेरे लिए, मैं वहाँ ज्ञान दे सकता हूँ। पर यह ज्ञान वहाँ के लिए उपयुक्त और अनुकूल होना चाहिए। अमेरिका में अनेक भारतीय वैज्ञानिक अनुसंधान में अग्रणी हैं, पर वे किनके लिए शोध कर रहे हैं? अमेरिकन कंपनियों के लिए। उन अनुसंधानों के पेटेन्ट और उससे होने वाला लाभ अमेरिकन कंपनियों के लिए है। उनकी संपत्ति बढ़ती है।

बैलगाड़ी का पहिया हल्का कैसे किया जा सकता है, इस पर खोज क्यों नहीं करते? कुएँ के पानी की सतह किस तरह ऊपर लाई जा सकती है, उसके बारे में क्यों नहीं सोचते? सर्दी से परेशान बच्चे की बहती नाक उसे तकलीफ न हो इस तरह कैसे पोंछी जाए, यह क्यों नहीं ढूँढते? ये और ऐसी ही छोटा-छोटी समस्याओं पर खोज कर के हम अपने देहातों तक पहुँचाएँगे तो उनके दर्द ज़रूर कुछ कम हो पाएँगे।



एक बात और - भारत के लोगों को सजग कीजिये। आप अनिवासी भारतीयों की आवाज़ आज महत्वपूर्ण बन गई है। अनिवासी भारतीय, महाराष्ट्र के मध्यम वर्ग के आदर्श

हैं। हम सब जानते हैं कि यहाँ के जीवन के कुछ फायदे हैं और कुछ नुकसान भी हैं। भारत के हमारे कुछ भाई आपकी मूर्खतापूर्ण नकल कर रहे हैं। उनको सावधान कीजिए कि यह सही रास्ता नहीं है। भौतिक समृद्धि से वंचित लोग अगर यह कहेंगे तो शायद कोई नहीं सुनेगा। पर जो भौतिक संपत्ति से सराबोर हैं वे यह कहेंगे कि नहीं यह रास्ता सुख का नहीं है, तब असर होगा। बताइए, हमारे देश के मध्यवर्गीय लोगों को हाथ उठाकर बताइए, सावधान कीजिए कि सुख का, संतोष का मार्ग वाया अमेरिका नहीं है।

आर. के. लक्ष्मण ने अपनी मार्मिक शैली में एक व्यंग्यचित्र बनाया है- हिमाचल के एकांत शिखर पर बैठे हुए एक जटाधारी साधु से, हेलिकॉप्टर से वहाँ पहुँचे एक पत्रकार ने पूछा, “मन की शांति और संतोष कहाँ मिलते हैं।” साधु विस्मित होकर बोला, “मुझे क्या पता? मैं तो अमेरिकन हूँ।”

सारांश यह कि जहाँ भी बन पाए अपना उपभोग कम करें, स्वमुक्ति हेतु कुछ दान करें। **फ्रेन्ड्स ऑफ चिल्ड्रन इन इंडिया** नाम का एक संगठन अमेरिका में बनाएँ। जहाँ कहीं भी भारतीय बसते हैं, वहाँ एक छोटा-सा संगठन बनाकर ऐसा क्यों नहीं कहते कि हम हर साल इतनी मदद करेंगे। जीवन के दो हफ्ते या दो महीने हम हर साल भारत को देंगे। एक बच्चे को बचाने के लिए ९७ डालर चाहिए, हम देंगे। यह सब यहाँ बैठकर भी हो सकता है।

शंकालु व्यक्ति पूछेगा, ‘यह समस्या इतनी बड़ी है-एक बच्चे को बचाने से क्या फायदा? एक गाँव में काम करने से क्या फर्क पड़ेगा?’

एक बार भयानक तूफान आया, समुद्र से बहुत सारी मछलियाँ किनारे पर आ गिरीं और रेत में फँस गईं। बिना पानी के तड़प रही थीं, पानी में जा नहीं पा रही थीं। ढेर सारी मछलियाँ तड़प रही थीं। एक आदमी वहाँ से गुज़र रहा था। उसने देखा कि एक संन्यासी एक-एक मछली उठा कर पानी में फेंक रहा है। पानी

में गिरते ही वे तैरती हुई निकल जातीं। इतनी सारी मछलियाँ तड़प रही हैं, यह संन्यासी एक-एक को उठाकर फेंक रहा है। मुसाफिर ने संन्यासी से कहा, “आप ऐसे एक-एक मछली फेंकेंगे तो क्या फर्क पड़ेगा?” संन्यासी कुछ नहीं बोला। एक मछली उठाकर पानी में फेंकी। मछली तैरने लगी। संन्यासी ने कहा, “यकीनन उस मछली को फर्क पड़ा।” दोस्तों फर्क पड़ता है, बस ज़रूरत है इरादे की, हिम्मत की और अपने कर्म पर यकीन की। हिंदी के कवि दुष्यंत कुमार कह गए हैं...

**कौन कहता है कि आसमाँ में सुराख हो नहीं सकता  
एक पत्थर तो तबीयत से उछालों यारो**



## गांधीजी का जन्तार

तुम्हें एक जन्तार देता हूँ। जब भी तुम्हें संदेह हो या तुम्हारा अहम् तुम पर हावी होने लगे, तो यह कसौटी आजमाओ:

जो सबसे ग़रीब और कमज़ोर आदमी तुमने देखा हो, उसकी शकल याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम उठाने का तुम विचार कर रहे हो, वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा, क्या उससे उसे कुछ लाभ पहुँचेगा? क्या उससे वह अपने ही जीवन और भाग्य पर कुछ काबू पा सकेगा? यानि क्या उससे उन करोड़ों लोगों को स्वराज्य मिल सकेगा जिनके पेट भूखे हैं और आत्मा अतृप्त?

तब तुम देखोगे कि तुम्हारा सन्देह मिट रहा है और अहम् समाप्त होता जा रहा है।